गीतामृत

लेखक—

ईशोपनिषद् योगामृत आदि ग्रंथों के रचयिता

श्री पं० गोपाल जी बी० ए०

मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ

प्रथम संस्करण
१६३८

मू० सजिल्द १)
बिना जिल्द ।।।)

* समर्पण *

श्री पूज्य महात्मा नारायण हरि जी

के

करकमलों

में

जिनका पवित्र हृदय गीतामृत

से

आप्लुत है

और

जीवन गीता रूप है।

विनीत—

* गीता *

यह मोह माया कष्ट मय तरना जिसे संसार हो
वह बैठ गीता नाव में सुख से सहज में पार हो
संसार के सब ज्ञान का यह ज्ञान मय भंडार है
श्रुति उपनिषद् वेदान्त ग्रन्थों का महा शुभ सार है
गीता सुब्रह्मस्वरूपणी बिन भेद भाव विकार है
सब उच्च नीचों को बराबर ज्ञान का अधिकार है
सुनते सुनाते नित्य जो लाते इसे व्यवहार में
पाते परम पद ठोकरें खाते नहीं संसार में

पारस रूप विशेष, लोह बने सोना छुवे
गीता ज्ञान 'दिनेश' संसृति सागर सेतु है

श्री दिनेश जी रचित—

श्रीहरिगीता से

* प्राक्कथन *

पाठक वृन्द

गीता पर अनेक सुन्दर भाष्य और अनेक उत्तम पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं; फिर इस पुस्तक के लिखने की आवश्यकता क्यों अनुभव हुई ? इसके दो कारण हैं पहला कारण तो यह है कि लोकमान्य तिलक के गीता सम्बन्धी विचारों को सरल तथा सुबोध भाषा में साधारण जनता तक ले जाने का प्रयत्न अभीष्ट था। दूसरा कारण यह है कि आधुनिक शिक्षित वर्ग को वैदिक धर्म के गूढ़ तत्त्वों को गीता द्वारा अवगत कराने का प्रयत्न आवश्यक प्रतीत हुआ। इन्हीं दो कारणों को लक्ष्य में रखकर मैंने इस छोटी सी पुस्तक की रचना की है।

पाठकों को इस पुस्तक के पढ़ने से दो भ्रम उत्पन्न हो जाने की सम्भावना है, उन्हें मैं दूर कर

देना चाहता हूँ। मैंने स्थान २ पर कृष्ण महाराज को 'भगवान् कृष्ण' के नाम से स्मर्ण किया है। यह शब्द केवल पूज्य बुद्धि के द्योतक हैं इससे अधिक इन शब्दों का कोई अर्थ न लिया जावे। मेरे हृदय में श्री कृष्ण महाराज के प्रति अनन्य श्रद्धा और भक्ति है मैं उन्हें एक उच्च कोटि का योगीश्वर मानता हूँ और यह समझता हूँ कि उनका मानुषी जीवन आदर्श एवं पूर्ण था। ब्रह्मचारियों में वे आदर्श ब्रह्मचारी थे गृहस्थियों में वह आदर्श गृहस्थी थे विरक्तों में वे सर्वोत्कृष्ट विरक्त तथा योगियों में वे योगीराज थे अर्थात् मानुषी जीवन का प्रत्येक पहलू उनका सर्वोत्कृष्ट रूप से उन्नत था। दूसरा जहाँ कृष्ण महाराज ने अपने आपको ईश्वर के रूप में प्रगट किया है उसका समाधान "गीता और वैदिक धर्म" नामक निबन्ध में स्पष्ट रूप से कर दिया है पाठक वृन्द उसका यथा अवसर वहीं अवलोकन करें।

भगवान् कृष्ण का गीता में दिया हुआ उपदेश

अनुपम है राज्य शक्तियां बदल चुकी और बदलती रहेंगी परन्तु उनका मार्मिक उपदेश हमेशा नया प्रतीत होगा।

सबसे बड़ी खूबी गीता में यह है कि प्रत्येक मतावलम्बी चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान पारसी हो या ईसाई, इससे आन्तरिक शान्ति उपलब्ध कर सकता है।

कर्म करने का उपदेश सब जगह मिलेगा परन्तु फलाकांक्षा को त्याग कर कर्म करने का उपदेश सिवाय गीता के और कहीं भी स्पष्ट रूप से प्राप्त नहीं हो सकेगा ऐसी मेरी धारणा है और इसलिये ही गीता में मेरी अनन्य श्रद्धा है!

मैंने इस पुस्तक के लिखने में निम्न पुस्तकों की सहायता ली है—

(१) गीता भाष्य—श्री शंकराचार्य्य जी।

(२) गीता रहस्य अर्थात् कर्म योग—

श्री लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक।

(३) श्रीहरिगीता—श्री पं० दीनानाथ जी भार्गव दिनेश।

(४) गीता—श्रीयुत सी राज गोपालाचार्य।

(५) गीता में ईश्वर वाद—श्रीयुत हीरेन्द्रनाथ दत्त

मैं उपरोक्त सब विद्वानों तथा महानुभावों का हार्दिक कृतज्ञ हूँ।

अन्त में अपने भाई कृष्णराव जी विद्यालंकार का हार्दिक धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने विशेष करके प्रेस के लिये साफ कापी लिखने में सहायता दी और श्री पं० हरिशरण जी सिद्धान्तालङ्कार का हार्दिक कृतज्ञ हूँ जिनका मुझे पूर्ण सहयोग मिला।

गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ
२०—२—३८

गोपाल

विषय सूची

पृष्ठ

गीता
का
महत्व

गीता का महत्व

गीता का महत्व उस समय प्रगट हुआ, जब महाभारत का युद्ध समाप्त हो गया और अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से पुनः प्रार्थना की कि वह उपदेश जो मुझे युद्ध के आरम्भ में दिया गया था—उसे फिर मुझे दिया जावे। भगवान् ने उत्तर दिया कि उस समय मैं योग-युक्त था, अब मेरी वह अवस्था नहीं है। इस लिये मैं नहीं जानता कि मैं अब क्या करूँ।

गीता का महत्व उस समय मालूम हुआ, जब आचार्य पद को प्राप्त करने के लिये जिन पुस्तकों का भाष्य करना आवश्यक समझा गया; उनमें गीता को विशेष स्थान दिया गया। वेदान्त दर्शन, गीता

और उपनिषद् इन तीन पुस्तकों का जो भाष्य करता था—वह ही आचार्य पद के योग्य समझा जाता था। श्री शङ्कराचार्य जी मे इन तीनों का भाष्य किया। श्री रामानुजाचार्य जी, श्री मध्वाचार्य, श्री निम्बार्काचार्य तथा श्रीधर स्वामी के अनुपम भाष्य गीता पर मिलते हैं। परन्तु सब पर साम्प्रदायिकता की छाप है। सब आचार्यों ने अपने २ मत का पोषण करने के लिये इसका आश्रय लिया है।

गीता तो एक छोटी सी पुस्तक है, जो जेब में रक्खी जा सकती है। परन्तु जो भाष्य इस पर मिलते हैं, वे इतने भारी हैं कि उनको एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिये अन्य साधनों की सहायता लेनी आवश्यक प्रतीत होती है।

यदि संस्कृत साहित्य की दृष्टि से इस पुस्तक का अवलोकन किया जावे, तब भी इस पुस्तक का महत्व बहुत बड़ा है। जिस प्रकार बाईबल की

अंग्रेजी बड़ी शुद्ध समझी जाती है, ठीक उसी प्रकार इस छोटी सी पुस्तक की संस्कृत बड़ी शुद्ध और पवित्र है। शायद ही संसार की कोई मुख्य भाषा हो जिसमें गीता का उलथा न हुआ हो।

इस संसार में दो पुस्तकों की सबसे अधिक मांग है—एक बाईबल की और दूसरी गीता की। बाईबल की मांग इसलिये अधिक है कि उसकी पीठ पर कई राज्यों की शक्ति है, उसके फैलाव के लिये धन की कमी नहीं है। परन्तु गीता एक कङ्गाल देश की पुस्तक है जिसकी पीठ पर न तो कोई राज्य शक्ति है और न ही कोई धन है। यदि यह पुस्तक सर्व प्रिय हो रही है तो उसका मुख्य कारण उसकी अपनी निजू विशेषता है, उसकी आन्तरिक महत्ता है।

गीता एक छोटी सी पुस्तक है, जो एक घन्टे में पढ़कर समाप्त की जा सकती है। परन्तु जिसका भाष्य लोकमान्य तिलक ने ६ वर्ष में अपनी जेल

यात्रा के समय समाप्त किया और जिसका अनुशीलन करने के लिये लोकमान्य ने अपने जीवन का सबसे अच्छा भाग ख़र्च किया। महात्मा गांधी के जीवन को सार्थक बनाने में गीता का ही मुख्य भाग है। एडवर्ड कारपैन्टर (Edward Carpenter) के जीवन ने तभी पलटा खाया था, जब वह सत्य की खोज में गीता नामी अमृत को उपलब्ध कर सका।

आज गीता जेलखानों में सड़ रहे कैदियों का एकमात्र सहारा हो रही है। वही गीता योगियों, सन्यासियों और महात्माओं की गुफाओं को सुशोभित कर रही है। उसी गीता के पाठ से मृत्यु शय्या पर लेटा हुआ मनुष्य शान्ति उपलब्ध करने का इच्छुक हो रहा है।

पश्चिमी विद्वान इस खोज में हैं कि यह अन्वेषण किया जावे कि इस पुस्तक की रचना किस काल में हुई। इसके श्लोक कितने हैं। इसकी बनावट में

किन २ मतों का वृत्तान्त है। इसका लेखक कौन है? कब हुआ, और उसका आचार कैसा था? हमें इन बातों से कोई प्रयोजन नहीं। हमें केवल यही देखना है कि वह पुस्तक जो इतना महत्व रखती है—हमारे लिये किस प्रकार अधिक उपयोगी हो सकती है और उसकी मुख्य शिक्षायें क्या हैं।

किसी पुस्तक का ज्ञान उपलब्ध करना हो, तो निम्न बातों का ध्यान रखना आवश्यक है—

उपक्रमोपसंहारौ, अभ्यासोऽपूर्वताफलम्।
अर्थवादोपपत्तीच, लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥

वह पुस्तक किस प्रकार आरम्भ होती है। उसकी समाप्ति किस किस प्रकार हुई है? उसके अन्दर बार २ क्या विषय आते हैं? उस पुस्तक में नवीनता क्या है और उसमें जो उदाहरण आते हैं, वे कहां तक सार्थक हैं?

गीता आरम्भ होती है अर्जुन के युद्ध करने के

संकोच से। वह अपने बान्धवों, बुजुर्गों और गुरुजनों को देखकर दुःखी हो रहा है। जो उसके सन्मुख युद्ध में मुकाबला करने खड़े हैं उन्हें देखकर वह कहता है—

''कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन'' ॥

किस प्रकार मैं भीष्म और द्रोण को अपने तीरों से बींधने का साहस कर सकता हूँ, जबकि वे पूजा करने के योग्य हैं—

''गुरून हत्वाहि महानुभावान्।
श्रेयो भाक्तु भैक्ष्यमपीह लोके'' ॥

गुरुओं को मार कर मैं इस संसार में किस प्रकार जीवित रह सकता हूँ। उनको मार कर राज्य भोगने की अपेक्षा तो भिक्षा मांग कर गुजारा कर लेना उत्तम है। इस व्यथा से यह पुस्तक आरम्भ होती है। भगवान् कृष्ण उसे समझाते हैं और युद्ध

के लिये तैयार करते हैं। कर्मों का महत्व उसे समझाया जाता है और बार २ यही कहा जाता है—

"तस्मात् युद्धयस्व भारत"
"तस्मात् उत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धायकृतनिश्चयः"
"योगस्थः कुरु कर्माणि"

युद्ध कर; योग युक्त होकर कर्मों को करता हुआ चला जा, युद्ध के लिये निश्चय कर इत्यादि।

बार २ यही उपदेश दिया जा रहा है—

"योगः कर्मसु कौशलम्"

योग कर्मों में कुशलता का नाम है। सारी गीता को पढ़ जाइये; उसमें नाना विध उपदेश आपको मिलेंगे। परन्तु सारांश यही मिलेगा कि अर्जुन युद्ध के लिये तय्यार हो जाए।

ज्ञान योग, ध्यान योग, राज योग तथा भक्ति योग सबका उपदेश इसीलिये है कि अर्जुन अपने

क्षात्र धर्म का पालन करे। यदि यह भाव नहीं तो १८ वें अध्याय में जब भगवान् अर्जुन से पूछते हैं कि क्या अब मेरी बात तुम्हें समझ आगई। अर्जुन उत्तर देता है—

"नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धात्वत् प्रसादान्मयाच्युत स्थितोऽस्मि गत संदेहः करिष्ये वचनं तव।"

मेरा मोह नष्ट होगया। मेरी भूल मुझे पता लग गई। आपकी कृपा से मुझे यथार्थ ज्ञान प्राप्त होगया। इन आपके वचनों के अनुसार कार्य करूँगा। तब शस्त्र हाथ में लेकर क्यों तैयार हो जाता है?

भगवान् ने ठीक कहा है—

"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः"

जनकादि कर्मों से ही सिद्धि को प्राप्त हो गये हैं, इसलिये स्पष्ट है कि गीता का महत्व इस बात में

निहित है कि ज्ञानी, ध्यानी, योगी, सन्यासी, महात्मा, गृहस्थी, ब्रह्मचारी कोई भी सुस्त न रहे, सब कर्म करें—

"तयोस्तु कर्मसन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते"

कर्म छोड़ने की अपेक्षा कर्मों का करना ही श्रेष्ठ है। वह कर्म योग क्या है? उसका दूसरे अध्याय में वर्णन करेंगे।

गीता का महत्व दर्शाने के लिये कृष्ण के भक्तों ने निम्न श्लोक की रचना की है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

सब उपनिषदें गउएं हैं। कृष्ण भगवान् उसके दोहने वाले हैं। बुद्धिमान् अर्जुन उस दूध का पान करने वाला बछड़ा है। श्रेष्ठ गीतामृत दूध है।

अब्धिर्लङ्घितएव वानरभटैः किं त्व स्य गम्भीरताम्

वानरों ने रामेश्वरम् का सारा पुल पार कर लिया,

परन्तु कितने बानर थे, जिन्होंने समुद्र की गहराई का पता लगाया था। इसी प्रकार हम नित्य गीता का पाठ करते हैं। परन्तु हम में से कितने हैं, जो गीता रूपी समुद्र में गोता लगाकर उसकी तह तक पहुँचे हों।

Sir Radha Krishanan ने गीता के महत्व को निम्न शब्दों में प्रगट किया है—

"The author of the Gita found that men could not be made to love logic. So he took his stand on the Upnishads, drew out their religious implications, galvinized them into a religious system by incorporating with their popular mythology & national imagination. The Gita stands midway between a philosophical system & a poetic inspiration."

गीता
ऑौर
कर्म योग

गीता और कर्म योग

कर्मयोग में दो शब्द हैं—कर्म और योग। ये दोनो शब्द बड़े महत्व के हैं। कर्म शब्द कृ धातु से निकला है; जिसका अर्थ है—करना, हल चल, व्यापार। इसी व्यापक अर्थ में ही गीता ने इस शब्द को ग्रहण किया है। शास्त्रों में कर्म तीन प्रकार के हैं—श्रौत कर्म, स्मार्त कर्म और आध्यात्मिक कर्म। श्रौत कर्म— वे हैं जो वेदोक्त यज्ञ यागादि के निमित्त किये जाते हैं। स्मार्त कर्म वह है जो प्रत्येक वर्ण तथा आश्रम के लिये विवक्षित है। जैसे क्षत्रिय के लिये लड़ाई करना, वैश्य के लिये व्यापार करना, ब्रह्मचारी के लिये विद्याध्ययन तथा ईश्वराराधना

और गृहस्थी के लिये अपने बच्चों का पालन पोषणादि। आध्यात्मिक कर्म वे हैं जो मानसिक सन्तुष्टि के लिये किये जाते हैं। जैसे व्रत रखना, दान देना आदि। इन तीनों के फिर तीन २ भेद हैं—नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य। चौथा एक और भेद है जिसे निषिद्ध के नाम से प्रसिद्ध किया हुआ है।

नित्य कर्म—शौच, दन्तधावन, सन्ध्या अग्नि-होत्रादि करना जिसके न करने से दोष लगता है। परन्तु जिसके करने से किसी प्रकार का कोई पुण्य नहीं मिलता।

नैमित्तिक कर्म—जो किसी निमित्त को लक्ष्य में रखकर किये जावें। जब वह निमित्त समाप्त हो जाता है, तो उस कर्म का गौरव भी स्वयं समाप्त हो जाता है। जैसे एक लड़का विद्याध्ययन इसलिये कर रहा है कि उसे अमुक परीक्षा देनी है। जब वह उस परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया तब उसका अध्ययन अपने आप ही शिथिल पड़ जावेगा।

काम्य कर्म—वह कर्म है जो किसी विशेष कामना को लक्ष्य में रखकर किया जाता है। यथा पुत्रेष्टि यज्ञ जो पुत्र की ही कामना से किया जाता है।

निषिद्ध कर्म—वह कर्म है जो सर्वथा त्याज्य है। यथा चोरी करना, झूठ बोलना, व्यभिचार करना, रिश्वत लेना आदि ये कर्म निषिद्ध कर्म हैं।

परन्तु गीता में कर्म शब्द अत्यन्त व्यापक तथा बिस्तृत अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। उसमें हमारा उठना, बैठना, खाना, पीना, चलना, घूमना, मनन करना, ध्यान करना, व्यापार करना आदि सब विवक्षित हैं। दूसरे शब्दों में गीता में "कर्म" शब्द कर्तव्य कर्म के अर्थों में प्रयुक्त समझा जाना चाहिये।

दूसरा शब्द है—योग। यह "युज्" धातु से बना है, जिसका अर्थ है—जोड़, मेल। योगः युक्ति= योग का अर्थ युक्ति, उपाय, साधन और तरीका भी है। इन्हीं अर्थों में गीता में इसका प्रयोग हुवा है।

भगवान् ने गीता में योग का स्वयं अर्थ किया है—

"योगः कर्मसु कौशलम्"
"समत्वं योग उच्यते"

योग-कर्मों में कुशलता को कहते हैं। अर्थात जिन तरीकों से कर्मों में निपुणता, सफलता और प्रवीणता प्राप्त हो।

द्वितीय अर्थ है—सुख दुःख में एक जैसा रहना। अर्थात् कर्म करते समय दुःख सुख का ख्याल न रहे। केवल अपने कर्तव्य का ही विचार आपने सामने उपस्थित रहे।

अब कर्म+योग इन दोनों शब्दों को मिलाइये। तब कर्म योग का गीता के अनुसार यह अर्थ हुआ कि जो हमारे कर्तव्य-कर्म हैं; उन्हें किस युक्ति या तरीके से किया जावे जिनसे उनका पूरा पूरा उपयोग लिया जा सके।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि हमारे

कर्तव्य-कर्म क्या हैं ? साधारणतया इस प्रश्न का उत्तर यह है कि 'जो शास्त्रों में विहित हैं'। जैसे—

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य,
अपरिग्रहा यमाः।
शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-
प्रणिधानानि नियमाः॥

अहिंसात्मक-जीवन व्यतीत करना, मन, वचन तथा कर्म में सत्य का व्यवहार करना, चोरी न करना, संयम का जीवन व्यतीत करना, स्वावलम्बन तथा किसी दूसरे पर आश्रित न रहना, शुद्धता, सन्तुष्ट रहना, तप करना, स्वाध्याय करना और सब काम ईश्वरपरायण होकर करना।

ये कर्तव्य कर्म ठीक हैं; परन्तु इसका उचित उपयोग कब और कैसे हो, इसे गीता से सीखना पड़ेगा। यदि गहरी दृष्टि से हम उपरोक्त कर्तव्य कर्मों का अनुशीलन करें, तो पता लगेगा कि इनमें

से प्रत्येक का अपवाद भी हो सकता है। जैसे अहिंसा को लीजिये—

अहिंसा का अर्थ है—किसी को पीड़ा न देना दुःख न देना। परन्तु यदि मेरे घर में चोर घुस आवें और मेरा धन उठाकर लेजावें या मेरी बहू-बेटियों की बेइज्जती करें, तो क्या उस समय उस चोर को दण्ड देना मेरा धर्म है या नहीं। हमारा शास्त्र हमें आज्ञा देता है—

"गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्,
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्"।

गुरु हो, बालक हो, बूढा हो, या बहुत बड़ा विद्वान् ब्राह्मण हो किन्तु ज़ालिम हो तो बिना विचारे उसको मार ही डालना चाहिये। जो क्षात्र धर्म का पालन करते हैं, उन्हें अपने दुश्मनों को क़त्ल भी करना पड़ता है; उनके शहरों को जलाना भी पड़ता है; मार पीट भी हो जाती है। डाक्टर को एक फोड़े का Operation करते समय दया नहीं

आती और बिल्कुल ख्याल नहीं करता कि मरीज़ को कितना कष्ट हो रहा है। इसलिये अहिंसा का यथार्थ रूप क्या है—यही कर्म योग भगवान् कृष्ण से हमने गीता में सीखना है।

अब सत्य को लीजिये—हमारे शास्त्र सत्य की महिमा से भरे पड़े हैं। राजा युधिष्ठिर ने केवल एक बार अपनी सारी आयु में झूठ बोला था और वह झूठ भी क्या था। केवल इतना ही कहा था कि "अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा"। इतने कहने पर ही उसे एक क्षण के लिये नरक में रहने का दण्ड मिला था। अर्जुन ने शिखण्डी की ओट में भीष्म को तीरों से बींधा था। तब उसे यह शाप मिला था कि वह अपने पुत्र बभ्रुवाहन से पराजित हो। राजा हरिश्चन्द्र ने अपने स्वप्न की प्रतिज्ञा को सत्य सिद्ध करने के लिये डोम की भी नीच सेवा की थी। केवल अपने वचन को पूरा करने के लिये।

"नास्ति सत्यात् परो धर्मः"
"सत्येनोत्तभिता भूमिः"
"सत्यपूतां वदेद् वाचम्"
"अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितञ्च यत्"
"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्"

सत्य से परे कोई धर्म नहीं। सत्य के आश्रित यह पृथ्वी खड़ी है। सत्य से पवित्र की हुई वाणी को बोले। सत्य वचन बोले, परन्तु वह किसी को उद्विग्न करने वाला न हो। सत्य बोले और वह प्रिय सत्य हो।

"अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्,
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥

सत्य की इतनी महिमा होते हुए भी उसका भी अपवाद है।

एक गाय मेरे घर में आकर घुस गई है। कसाई उसका पीछा कर रहे हैं। यदि मैं उन्हें दे देता हूँ तो

गौ-हत्या का पाप लगता है—क्योंकि वे उसे अवश्य मार देंगे। यदि मैं कहता हूँ कि मेरे घर में गाय नहीं है तो झूठ बोलता हूँ। इस अवस्था में मेरा क्या धर्म है? इसमें हमारा गीता का कर्म योग ही सहायक है।

हम जानते हैं कि मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव! माता की आज्ञा पालन करना, माता की सेवा सर्वोत्तम कर्म है। जैसा कि कहा भी है—

"उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता,
सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते"।

परन्तु परशुराम ने किसी अपराध के कारण अपनी माता का भी वध कर दिया था।

काम, क्रोध और लोभ ये तीन नरक के द्वार हैं—इस प्रकार भगवान् स्वयं गीता में कहते हैं—

"त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्"॥

परन्तु इसी गीता में भगवान् ने यहभी कहा है—

"धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।"

हे अर्जुन प्राणिमात्र में जो काम धर्म के अनुकूल है—वह मैं ही हूं। यदि काम का समूल नाश हो जाय तो यह सृष्टि भी नष्ट हो जाय।

क्रोध के विषय में तो वेद में आज्ञा भी दी हुई है-

"मन्युरसि मन्युं मयि देहि"

हे परमात्मन् तुम क्रोधवान् हो मुझे भी क्रोध दो। क्रोध (righteous indignation)

"अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जात-
हार्देन न विद्विषादरः"

जिस मनुष्य को अपमानित होने पर भी क्रोध नहीं आता उसकी मित्रता और द्वेष दोनों बराबर हैं।

इसी प्रकार सन्तोष को लीजिये—शास्त्र में हम पढ़ते हैं—"सन्तोषादनुत्तम सुखलाभः" परन्तु

क्या किसी विद्यार्थी को अपने विद्याध्ययन की उन्नति से सन्तुष्ट हो जाना चाहिये ? उसे हमेशा असन्तुष्ट रहना चाहिये ! तभी वह आगे उन्नति करेगा। क्या व्यापारी को अपने धन से सन्तुष्ट रहना चाहिये ? उसे अधिक व्यापार कर अधिक धन कमाने के लिये सर्वदा प्रोत्साहित रहना चाहिये।

"समुत्थानमसन्तोषः श्रियं प्रति"

उन्नति करने में, धन कमाने में असन्तोष का अवलम्बन करना अधिक अच्छा है।

अर्थात् जितने भी अच्छे कर्म हैं, उनके अपवाद भी साथ २ हैं। इसलिये वह कर्म किस समय, किस रीति से किया जाना उचित है—यह ज्ञान हमें गीता के कर्म योग-शास्त्र के अध्ययन से मिलेगा।

Auguste Comte ने अपने समाज शास्त्र में लिखा है—कि तीन प्रकार के विवेचन हैं—Positive, Theological & Metaphysical

इन को हमारी परिभाषा में आधिभौतिक विवेचन, आधिदैविक विवेचन और आध्यात्मिक विवेचन कहते हैं। आधिभौतिक विवेचन वस्तु के प्रत्यक्ष में लाभालाभ पर आश्रित है। Mill, Spencer Sidgwick, Hobbes ये सब आधिभौतिक विवेचन के पक्षपाती थे। Schopenhauer आध्यात्मिक विवेचन के पक्षपाती थे। आधिभौतिक विवेचन के पक्षपाती प्रायः Utilitarian point of view (लाभालाभ दृष्टिकोण) से काम लेते हैं। आध्यात्मिक विवेचन के पक्षपाती Absolute—point of view (अन्तिम ध्येय) द्वारा अपने ध्येय को सिद्ध करते हैं। यह कर्म अच्छा या बुरा है, क्योंकि इस से समाज को अमुक लाभ है या नुकसान है। Utilitarians का ध्येय greatest good of the greatest number है अर्थात् "अधिक संख्या का अधिक लाभ"। क्राइस्ट का शिष्य पाल बाईबल में कहता है—" यदि मेरे असत्य

भाषण से ईसाई धर्म का अधिक प्रचार होता है तो इससे मैं पापी क्योंकर हो सकता हूं"। Leslie Stephen लिखता है—"यदि मेरा यह विश्वास हो कि झूठ बोलने से ही कल्याण होगा तो मैं सत्य बोलने को कभी तय्यार नहीं रहूंगा। मेरे इस विश्वास में यह भाव भी हो सकता है कि इस समय मेरा झूठ बोलना ही कर्तव्य है। "And the certainty might be of such a kind as to make me think it a duty to be" इस प्रकार कर्तव्यकर्म का निश्चित करना आधिभौतिक विवेचन कहलाता है।

इस प्रकार का विवेचन हमारे यहां पर भी हुआ है, जैसा कि भीष्म पितामह युधिष्ठर से कहते हैं—

"अकूजनेन चेन्मोक्षो नावकूजेत् कथञ्चन;
अवश्यं कूजितव्ये वा शंकेरन् वाप्यकूजनात्;
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं सत्यादिति विचारितम्"।

यदि बिना बोले छुटकारा हो सके तो कुछ भी हो बोलना नहीं चाहिये और यदि बोलना आवश्यक हो अथवा न बोलने से कुछ सन्देह होना सम्भव हो तो उस समय सत्य के बदले असत्य ही बोल देना प्रशस्त है।

परन्तु गीता तथा वैदिक धर्म को यह मत मान्य नहीं है। गीता का दृष्टि कोण Absolute आध्यात्मिक है। वह अधिक लोगों के अधिक सुख पर आश्रित नहीं है। उसका सिद्धान्त यह है—

"आत्मा का कल्याण अथवा आध्यात्मिक पूर्णावस्था ही प्रत्येक मनुष्य का पहला और परम उद्देश्य है। अन्य प्रकार के हितों की अपेक्षा उसे ही प्रधान जानना चाहिये और उसी के अनुसार कर्म तथा अकर्म का निश्चय किया जाना चाहिये। अध्यात्म विवेचन को छोड़कर कर्म अकर्म का विचार करना ठीक नहीं।"

Kant जर्मन तत्व वेत्ता ने भी इसी सिद्धान्त

को स्वीकार किया है। उसकी पुस्तक Critique of practical reason इसी सिद्धान्त की पोषक है।

मनु ने भी कर्म अकर्म का निश्चय करने के लिये ठीक कहा है:—

"वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः"

वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी आत्मा की आवाज़ का ख्याल रखना चाहिये।

इसलिये कर्तव्य-कर्म गीता के अनुसार वही है, जिसमें आत्मा की आवाज़ का ही अधिक ख्याल रहे। उस कर्म के करने में दुःख और सुख की परवाह न की जाय—

"योगस्थः कुरु कर्माणि"

योग में स्थित होकर कर्मों को करो। योग क्या है?—

"समत्वं योग उच्यते"

जिसमें सुख और दुःख की समावस्था है।

"कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"

कर्मों के करने में ही तेरा अधिकार है, उसके फल में तेरा अधिकार नहीं है।

"तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर"

असंग होकर कर्मों को कर।

"कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जन
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः"।

वह त्याग सात्विक है, जिसमें फल को त्याग कर कार्य किया जावे। यह मेरा कर्तव्य है; ऐसी भावना से काम करे।

"योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये"

योगी लोग आसक्ति से रहित अपनी आत्मा की शुद्धि के लिये कर्म करते हैं।

"सर्वकर्मफल त्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः"

सच्चा त्याग, विद्वान् लोग उसी को समझते हैं, जिसमें सब कर्मों के फल को त्याग कर कर्म किया जावे।

भगवान् ने गीता के एक श्लोक में इस कर्म योग शास्त्र के तत्व को सम्यकृतया दर्शाया है।

"कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्" ॥

जो मनुष्य कर्मों में अकर्म को देखता है और अकर्म में कर्म को देखता है। वह मनुष्य मनुष्यों में बुद्धिमान् है। वह सब काम करता हुआ भी योगी है।

मद्रास के प्रधान मन्त्री श्री० सी० राजगोपालाचार्य लिखते हैं—

"Right action involves true renunciation what we should renounce however, is not action but selfish

desire. We should liberate our activities from the bondage of selfish purpose. Work should be done in a spirit of duty alone and results should not be permitted to agitate the mind. This unselfish and detached attitude can and should be cultivated even while we are engaged in normal activities."

पश्चिमी विद्वानों के मत का अवलोकन कीजिये–

TOLSTOY "Work is the inevitable condition of human life, the true source of human welfare."

JACOBI "We enjoy ourselves only in our work, in our doing and our best doing is our enjoyment."

PLATO Let men of all ranks whether they are successful or unsuccessful, whether they triumph or not, let them do their duty & rest satisfied.

कर्म योग (Right & selfless action)

"किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्य सेऽशुभात्"॥

कर्तव्य कर्म क्या हैं? और न करने योग्य कर्म क्या हैं? इस समस्या को हल करने के लिये विद्वान् लोग भी घबरा गये हैं। इस लिये कर्तव्य क्या हैं? इस विषय पर तुम्हें उपदेश दूंगा जिसे जानकर तू अशुभ मार्ग से बच जायगा।

"कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥"

कर्म (जो दूसरों के फायदे के लिये कियेजाते हैं) का ज्ञान होना आवश्यक है। विकर्म (जो निषिद्ध

कर्म हैं) का भी बोध होना चाहिये। अकर्म (जो केवल अपने व्यक्तित्व के लिये कर्म किये जाते हैं) का ज्ञान होना भी जरूरी है। सचमुच कर्म की गति न्यारी है और उसका सम्यक् ज्ञान होना कठिन है।

"कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्न कर्मकृत् ॥

जो कर्मों में अकर्म को देखता है और अकर्म में कर्म को—वह मनुष्यों में बुद्धिमान है; सब कुछ करता हुआ भी वह योग युक्त है। सारांश यह है कि जो लोकोपकारक कर्मों में अपना भला देखता है और अपने लिये जो कर्म करता है, उसमें दूसरों की भलाई का ख्याल रखता है, उसे ही बुद्धिमान् समझना चाहिये; उसे ही योगी समझा जावे।

"यस्य सर्वे समारम्भाः काम संकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्नि दग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः" ॥

जिसकी सब आयोजनायें स्वार्थ से रहित हैं;

जिसके सब कर्म ज्ञान रूपी अग्नि द्वारा दग्ध=पवित्र (रागादि के नाश से फल को पैदा करने में असमर्थ) हो चुके हैं; विद्वान् लोग उसको ही पण्डित समझते हैं।

**"यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥**

जो केवल उसी में ही सन्तुष्ट है, जो उसे अपने आप प्राप्त हो जाता है; जो सुख-दुःख, क्षुधा-पिपासादि, सरदी-गरमी द्वन्दों से रहित हो चुका है; जो कामयाबी अथवा नाकामयाबी की हालत में विचलित नहीं हो जाता—वह सब काम करता हुआ भी बन्धनों से रहित है।

**"अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥**

जो सब कर्मों को फल के आश्रित न होकर करता है अर्थात् फल को लक्ष्य में न रखकर अपने

कर्तव्य का पालन करता है; वह ही सन्यासी है तथा योगी है। वह सन्यासी तथा योगी नहीं है; जो अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता और न ही यज्ञ करता है।

"योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

वह सब कर्मों को करता हुआ कर्मों में लिप्त नहीं होता जो योग युक्त है, जिसका अन्तःकरण शुद्ध है; जिसने अन्तःकरण को विजय किया हुआ है, जिसने इन्द्रियों को अपने संयम में कर लिया है; जो सर्वथा स्वार्थ रहित हो चुका है और सब भूतों की आत्मा = परमेश्वर को अपनी आत्मा की तरह अनुभव करता है। अर्थात् परमेश्वर को अपने हृदय में स्थित जानता है।

"कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्मकुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥

योगी अनासक्त होकर अपनी आत्मा की शुद्धि के लिये अपने शरीर को वासनाओं से रहित करके शुद्ध इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि द्वारा कार्य करते हैं।

"काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥"

विद्वान लोग सकाम कर्मों के त्याग को ही सन्यास समझते हैं। तत्वदर्शी (धीर) पुरुष सब कर्मों के फल के त्याग को ही हकीकी त्याग समझते हैं।

"कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः॥"

हे अर्जुन! वह त्याग सात्विक त्याग है, जो कर्तव्य कर्म को अनासक्त होकर किया जावे और उसके फल की इच्छा न रखी जावे। यह कर्म करना है। इसी भाव से जो फल की आकांक्षा

न करके कर्म किया जाय, वह सात्विक त्याग कहाता है।

"कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
माकर्म फल हेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥"

कर्म करने में तेरा अधिकार है। फल में तेरा अधिकार नहीं है। इसलिये कर्म के फल को भोगना तेरा लक्ष्य न हो; परन्तु ऐसा भी न हो कि जो तू कर्मों को ही करना छोड़ दे।

"योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते।

इसलिये योग में स्थित होकर और अनासक्त होकर कर्मों को कर। कामयाबी अथवा नाकामयाबी में एक जैसा रह। योग सुख दुःख में समावस्था का नाम है।

"न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥"

कर्मों के आरम्भ किये बिना नैष्कर्म्य अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकता और न ही कर्मों को छोड़ने से मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है।

"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥"

कोई आदमी एक क्षण के लिये भी बिना काम के रह नहीं सकता। प्रत्येक मनुष्य को अपने स्वाभाविक गुणों के कारण काम करने लिये बाधित होना पड़ता है।

"कर्मेन्द्रियाणि संयम्यय आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥"

वह मनुष्य जो कर्मेन्द्रियों का तो संयम किए हुए है; परन्तु मन से विषयों का ध्यान करता रहता है। उसे मक्कार समझो। वह अपने आपको धोखा दिये हुए है।

"नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः ॥"

उचित कर्मों में अपने आपको लगाओ। न कर्म करने से कर्म करना उत्तम है कर्मों के बिना तो शरीर यात्रा भी नहीं हो सकती।

"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म बन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥"

कर्म दुःख का हेतु उस समय है; जब वह लोकोपकारक नहीं है। इस लिये वही कर्म कर जिससे दूसरों का लाभ हो, परन्तु वह कर्म भी अनासक्त होकर किया जावे।

"कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥"

जनक तथा अन्य महानुभाव कर्मों से ही सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुए थे। लोगों की भलाई का ख्याल करते हुए तुम्हें कर्तव्य परायण होना चाहिये।

"सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥"

जिस प्रकार मूर्ख लोग आसक्त होकर स्वार्थ के लिये कर्मों को करते हैं। उसी प्रकार विद्वान् लोग अनासक्त होकर लोकोपकारक कर्मों को करते रहें।

"चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥"

सब कर्मों को मन से मुझे सपुर्द करके मुझ तक पहुँचने की कोशिश करते हुए तू बुद्धि योग (निष्काम कर्म योग) का आश्रय ले और मुझमें ही अपने चित्त को लगा दे।

वेद में

कर्म योग

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

इस संसार में सौ वर्ष तक मनुष्य निष्काम भाव से कर्म करते हुए जीने की इच्छा करे ऐसा करने से वे कर्म मनुष्य के बन्धन के हेतु न होंगे। इसके अतिरिक्त कल्याण का अन्य कोई मार्ग नहीं है।

गीता
और
ज्ञानयोग

गीता और ज्ञानयोग

ज्ञानयोग का दूसरा नाम सांख्ययोग है। भगवान् कृष्ण ने दो मार्गों का निर्देश किया है—एक ज्ञान योग और द्वितीय कर्म योग।

"ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्"

ज्ञानियों के लिये ज्ञान योग है और योगियों के लिये कर्म योग है। परन्तु यह भ्रम न हो जाय कि ये दोनों मार्ग परस्पर विरोधी हैं; इसलिये भगवान् कृष्ण स्वयं स्पष्ट करते हैं—

"यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तत्योगैरपि गम्यते"

ज्ञान मार्ग से जो वस्तु प्राप्त होती है, वही

कर्म मार्ग से भी मिलती है।

"एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति"

जो ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग को एक समझता है वह ही वस्तुतः तत्व को देखता है और वह ही वस्तुतः पण्डित है।

कई आचार्यों ने इन दो मार्गों को सर्वथा भिन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने यह प्रगट किया है कि ज्ञान मार्ग तो ज्ञानियों तथा सन्यासी महात्माओं के लिये है और मुक्ति का एक मात्र साधन है। कर्म योग, संसारी मनुष्यों के लिये है और केवल हृदय को पवित्र करने के लिये साधन है। इसके लिये गीता का निम्न प्रमाण देते हैं—

"यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन;
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥"

जिस प्रकार जलती हुई आग लकड़ी को राख

में परिवर्तित कर देती है; उसी प्रकार ज्ञान रूपी अग्नि सब कर्मों को भस्म कर देती है।

परन्तु यह ध्यान रहे कि यहां कर्म का अर्थ सकाम कर्म है। सकाम कर्मों का भस्म होना आवश्यक है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या जिस मनुष्य को ज्ञान प्राप्त हो गया, उसे ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर भी कर्म करने का अधिकार है या नहीं?

श्री शङ्कराचार्य तथा अन्य मतावलम्बी यह समझते हैं कि कर्म करने का अधिकार नहीं है। तो फिर भगवान् ने अर्जुन को सारा ब्रह्मज्ञान देने के पश्चात् युद्ध करने के लिये क्यों प्रवृत्त किया? जहां कर्मों के नाश का विधान है वहां सकाम कर्मों के नाश का जिक्र समझना चाहिये।

"अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः,
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः"

जो कर्मों के फल के आश्रित न रहकर कर्म

करता है, वह ही सन्यासी है और योगी है। वह सन्यासी या योगी नहीं है, जो यज्ञ नहीं करता और कर्म नहीं करता।

अब यह देखना है, कि ज्ञान योग का सिद्धान्त क्या है? ज्ञान योग का सिद्धान्त यह है कि आत्मा अजर और अमर है। वह स्वभाव से निष्पाप, शुद्ध और पवित्र है।

"असङ्गोऽयंपुरुषः"

वह आत्मा सर्वथा असङ्ग है। जीव स्वभाव से न बद्ध है न मुक्त है। ये दोनों औपाधिक धर्म हैं। प्रकृति के संसर्ग से जीव बद्ध हो जाता है और परमात्मा के संसर्ग से मुक्त हो जाता है। यथार्थ में जीव दुःख, सुख से पृथक् तीनों तापों से परे साक्षी रूप है। वह द्रष्टा है। मन और बुद्धि के धर्म को अपना धर्म समझ कर वह दुःखी या सुखी होता है। इसलिये भगवान् कृष्ण अर्जुन को

उपदेश देते हैं—

'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय! शीतोष्ण सुख दुःखदाः'

मात्रा (Matter) के संपर्क से हे अर्जुन! मनुष्य सरदी, गरमी, सुख, दुःख अनुभव करता है। अन्यथा मनुष्य की आत्मा में न सरदी है, न गरमी है, न सुख है और न ही दुःख है।

अर्जुन अज्ञान वश अपने बान्धवों को युद्ध में मुक़ाबिले में देखकर दुःखी हो रहा है। रण-क्षेत्र से भागने का प्रयत्न कर रहा है।

**"तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥"**

आंसुओं से व्याप्त तथा व्याकुल आखों वाले दुःखी हुए २ अर्जुन को मधुसूदन ने यह वचन कहा–

**"क्लैव्यं मास्म गमः पार्थ! नैतत् त्वयि उपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप!
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥"**

नपुंसक मत बन। यह तेरे लिये ठीक नहीं है। हृदय की क्षुद्र दुर्बलता को छोड़कर उठ और युद्ध के लिये निश्चय कर।

जब इस फटकार का भी उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा तो आधिभौतिक विवेचन (Positive method) द्वारा समझाने की कोशिश की गई। उस समय कृष्ण ने कहा—

'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसेमहीम्'

यदि तू मर गया तो स्वर्ग को प्राप्त होगा और यदि जीत गया तो पृथ्वी का मालिक बन जायगा।

"यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥"
"अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥"
"अकीर्तिञ्चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते॥"

हे पार्थ ! यह युद्ध आप ही आप खुला हुआ स्वर्ग का द्वार है। ऐसा युद्ध भाग्यवान् क्षत्रियों को ही मिला करता है।

अतएव यदि तू धर्म के अनुकूल युद्ध नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्ति को खोकर पाप बटोरेगा।

यह ही नहीं बल्कि लोग तेरी अक्षय दुष्कीर्ति गाते रहेंगे और वह अपयश सम्मानित पुरुष के लिये मृत्यु से भी बढ़ कर है।

जब इस तरीके से भी वह न माना, तब भगवान् ने ज्ञान मार्ग का उपदेश देकर उसकी सब शङ्काओं को निवृत्त कर दिया।

वह उपदेश निम्न प्रकार है—

"तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥"

तब हृषीकेश कृष्ण हँसते हुए निम्न वचन अर्जुन से बोले। अर्जुन उस समय दुःखी अवस्था में दोनों ओर की सेनाओं के मध्य में खड़ा हुआ था।

"देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥"

जिस प्रकार मनुष्य पहले बच्चा होता है, फिर नौजवान हो जाता है। परन्तु उसे अपने बचपन छोड़ने पर कोई पश्चाताप नहीं होता। इसी प्रकार यह देह जब भस्मान्त हो जाता है; तब दूसरा देह मिल जाता है। धीर लोग उसमें शोक नहीं करते।

नाश तो इस शरीर का होता है और नाश शरीर के उस भाग का होता है जो स्थूल है। सूक्ष्म शरीर तो आत्मा के साथ दूसरे शरीर में चला जाता है। इस लिये शोक किस बात का है।

"य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥"

जो यह समझता है कि आत्मा किसी को मारता है या जो यह समझता है कि वह आत्मा किसी से मारा जाता है। वे दोनों बेसमझ हैं। न यह आत्मा किसी को मारता है और न ही किसी से मारा जाता है।

"न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥"

न आत्मा कभी पैदा हुआ है और न कभी यह मरा है। यह अजर है, नित्य है, शरीर के नष्ट होने पर भी यह नष्ट नहीं होता।

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरो पराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य-
न्यानि संयाति नवानि देही ॥"

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥"

जिस प्रकार पुराने कपड़े उतार कर परे फैंक दिये जाते हैं, और नये कपड़े धारण किये जाते हैं। इसी प्रकार पुराने शरीरों को छोड़ कर आत्मा नवीन शरीरों को प्राप्त हो जाता है।

इस आत्मा को न शस्त्र काट सकते हैं; न ही आग जला सकती है और न वायु इसे सुखा सकती है। इसलिये शोक किस बात का। "तत्र का परिदेवना"।

इस प्रकार आत्मा की नित्यता अजर तथा अमरपन साबित करके भगवान् उसे एक क्रियात्मिक उपदेश देते हैं। वह उपदेश ध्यान पूर्वक पढ़िये। हे अर्जुन! तू स्थित प्रज्ञ हो जा।

"आत्मन्येवात्मनातुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते"

स्थित प्रज्ञ उस समय होगा, जब मनुष्य अपनी आत्मा में ही मस्त हो जावेगा; उसीमें तल्लीन हो जायेगा। जिस प्रकार एक बच्चा अपना अंगूठा मुख में चूसता हुआ; अपनी चारपाई पर लेटा हुआ टांगे कभी इधर उधर मारता है और मस्ती में कभी हँसता है कभी गम्भीर हो जाता है। उसे अपने आप में बड़ा आनन्द आरहा है। ठीक उसी प्रकार तू भी होजा। अर्जुन पूछता है—वह कैसे ? भगवान् उत्तर देते हैं—

"दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥"

दुःखों में मन उद्विग्न न हो और सुखों में कोई लालसा न रहे। राग, भय और क्रोध से रहित हुआ २ मुनि स्थित प्रज्ञ कहलाता है।

जिस प्रकार एक कछुआ सब अपने अङ्ग समेट लेता है; तब उस पर कोई प्रहार असर नहीं करता।

इसी प्रकार हे अर्जुन! जब सब इन्द्रियों पर तेरा अधिकार हो जायेगा, तब तुम पर बाहर का कोई प्रभाव असर नहीं करेगा।

यह है ज्ञान-योग जिसका उपदेश भगवान ने अर्जुन को दिया है।

अब पाश्चात्य-विद्वानों के विचार सुनिये—

CAMPBELL.

"Cold in the dust this
perished heart may lie.
But that which warmeth
it once shall never die."

LONGFELLOW.

"And in the wreck of noble lives.
Something immortal still survives"

GOETHE. "I am fully convinced that soul is industructible and that its activity will continue through eternity."

ज्ञान योग

(Realization of the self)

"अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डितः॥

तुम उनके लिये शोक करते हो जिनके लिये शोक नहीं करना चाहिये। फिर विद्वानों की तरह भाषण करते हो। विद्वान न तो जीवित के लिये और न ही मृत के लिये किसी प्रकार का शोक करते हैं।

"नत्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥"

ऐसा कभी नहीं हुआ कि मैं न रहा हूं और न ही कभी ऐसा हुआ है कि तुम न रहे हो। ये राजा लोग कभी नहीं थे यह भी नहीं हुआ। आगे हम सब नहीं होंगे यह भी नहीं। सारांश यह है कि यह चक्र

सदा से कायम है। जो आज पैदा हुए हैं वे कल मरेंगे और पुनः जन्म लेंगे।

"देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥"

जिस प्रकार इस देह में मनुष्य बचपन, जवानी और बुढ़ापे में से गुजरता है। इसी प्रकार उसे इस शरीर को छोड़ने के पश्चात दूसरे देह की प्राप्ति होती है। तब धीर पुरुष शोक नहीं करते।

"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं
भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥"

आत्मा न कभी पैदा हुई और न कभी मरी। यह होकर न रही हो अर्थात नष्ट हो गई हो यह बात भी नहीं और न ही यह न होकर फिर पैदा हुई हो यह बात भी नहीं। यह आत्मा न कभी उत्पन्न हुई और

न कभी नष्ट होगी (नित्य है)। शरीर के नाश होने पर यह नष्ट नहीं होती।

"वासांसि जीर्णाणि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य
न्यानि संयाति नवानि देही॥"

जिस प्रकार मनुष्य पुराने कपड़े त्याग कर नये कपड़े धारण करता है। इसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर धारण करता है।

"अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥"

इस आत्मा का छेदन कभी नहीं होता। इसका दहन कभी नहीं हो सकता यह आत्मा कभी गीली नहीं हो सकती और नहीं सुखाई जा सकती है। यह आत्मा नित्य है; सबमें है; अचल है; स्थिर है और सनातन है।

"अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानु शोचितुमर्हसि ॥"

यह आत्मा दिखलाई नहीं देती; इसका पूरी तरह चिन्तन भी नहीं होता तथा इसमें कोई विकार भी नहीं होता। इसलिये इसे ऐसा जानकर तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।

"देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥"

यह आत्मा जो प्रत्येक के देह में विद्यमान् है— नित्य है; कभी बींधा नहीं जा सकता। इसलिये तुझे किसी के लिये शोक नहीं करना चाहिये।

"यावत्संजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥"

जो कुछ यहां पैदा होता है और जो स्थावर अथवा जंगम दिखाई देता है। हे भरतर्षभ !

वह आत्मा और शरीर के संयोग के कारण से है ऐसा तू जान।

"यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥"

जिस प्रकार सर्वत्र व्यापक आकाश सूक्ष्म होने के कारण किसी में लिप्त नहीं है। इसी प्रकार आत्मा जो हमारे शरीर में व्याप्त हो रहा है; वह हमारे इस शरीर में लिप्त नहीं होता।

"यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥"

जिस प्रकार सूर्य इस सारी पृथ्वी को प्रकाशित कर रहा है। उसी प्रकार आत्मा हमारे सारे शरीर को प्रकाशित कर रहा है।

"यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥"

जिस प्रकार दीप्त अग्नि ईन्धन को राख में परिवर्तित कर देती है। इसी प्रकार आत्मा की ज्ञान रूपी अग्नि सकाम कर्मों को राख में परणित कर देती है (फल पैदा करने में असमर्थ कर देती है)।

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥"

आत्म ज्ञान के सदृश और कोई चीज़ हमें पवित्र करने वाली नहीं है। जो मनुष्य स्वार्थ रहित होकर कार्य करने में निपुण हो गया है; उसे यह उचित काल में प्राप्त हो जाता है।

"तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥"

इसलिये आत्म ज्ञान की तलवार से इस अज्ञान से पैदा हुए २ सन्देह को काट दे और योग मार्ग का अवलम्बन कर तथा युद्ध के लिये खड़ा हो।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥"

ज्ञान योग और कर्म योग पृथक् २ हैं। यह (बालकों) मूर्खों का कथन है। विद्वान् लोग ऐसा नहीं कहते। इनमें से किसी एक में भी स्थित हुआ २ मनुष्य दोनों के फल को भोगता है।

"यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥!'

जो ज्ञान योग से स्थान प्राप्त होता है; वह ही कर्म-योग से प्राप्त हो जाता है। जो ज्ञान योग और कर्म-योग को एक समझता है; वह ही देखता है और वस्तुतः वह ही विद्वान् है।

जब मनुष्य को आत्म ज्ञान हो जाता है; उस समय उसकी क्या अवस्था होती है; उसको निम्न चार श्लोकों में वर्णन किया है—

"अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥"

प्राणिमात्र से वह द्वेष रहित हो जाता है; सबका मित्र बन जाता है तथा स्वभाव से करुणामय हो जाता है। अहंकार लेश मात्र भी नहीं रहता। दुःख और सुख में बराबर तथा क्षमा शील हो जाता है।

"यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभ परित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥"

जिसका किसी के साथ न राग है, न द्वेष है, न कभी शोकातुर होता है; न कभी किसी चीज़ का इच्छुक है; तथा शुभ और अशुभ से वह ऊपर की अवस्था में हो गया है; ऐसा भक्त मेरा प्यारा है।

"समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥"

शत्रु और मित्र में वह तुल्य है; मानापमान में भी वह तुल्य है, सरदी-गरमी, सुख दुःख सब उसे एक जैसे लगते हैं तथा प्रत्येक बात में वह अनासक्त बुद्धि रखता है।

"तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केन चित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥"

निन्दा और स्तुति में वह एक जैसा रहता है, वह प्रायः चुप रहता है और जो कुछ मिल जावे उसी में सन्तुष्ट रहता है, धन धाम आदि में ममता नहीं रखता, दृढ़ चित्त है, वह मेरा भक्त है, और वही मेरा प्यारा है।

वेद में

ज्ञान योग

वेनस्तत् पश्यत् परमं गुहा
यद्यत्र विश्वं भवत्येक रूपम्

भक्त जन उस आत्मा का अपने हृदय रूपी गुफा में दर्शन करते हैं-समाधि अवस्था में यह नाना विध संसार भक्त को एक रूप दिखलाई देता है।

गीता
और
राज योग

गीता और राज योग

पातञ्जल योग को ही राज योग कहते हैं। राज योग पहले यह देखता है कि हमें बीमारी क्या है? उस बीमारी का कारण क्या है? उससे छुटकारा किस प्रकार हासिल किया जावे? इसे राज योग की भाषा में हेय, हेयहेतु, हान तथा हानोपाय कहते हैं।

बीमारी यह है कि दुःख हमारा पीछा नहीं छोड़ते

"नानक दुखिया सब संसार"

किसी जमाने में स्पेन देश में मुसलमानों का राज्य था। वहां अब्दुल रहमान नामक एक बहुत

ही न्यायी और पराक्रमी बादशाह हो गया है। उसने यह देखने के लिये कि मेरे दिन कैसे कटते हैं; एक रोज़नामचा बनाया था। जिसको देखकर उसे अन्त में यह ज्ञात हुआ था कि ५० वर्ष के शासन काल में उसके केवल १४ दिन सुख पूर्वक बीते हैं। शेष आयु में कभी न कभी कोई दुःख उसे सदा बना रहा है।

गौतम बुद्ध ने दुःखों को देखकर ही अपने राज्य से जुदा हो, उनका इलाज मालूम करने की ग़रज़ से फ़क़ीरी बाना स्वीकार किया था।

पतञ्जलि मुनि योग दर्शन में लिखते हैं—

"परिणामताप संस्कार दुःखैर्गुणवृत्ति
विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।"

विवेकी पुरुष को सब कुछ दुःखमय ही प्रतीत होता है। क्यूँकि प्रत्येक वस्तु का परिणाम दुःखमय है। ताप को दुःखमय सब जानते ही हैं।

उन परिणामों और तापों के जो संस्कार हैं; वे और भी अधिक दुःखमय हैं। इसलिये विचारतत्व से यही पता लगता है कि दुःख की निवृत्ति ही मनुष्य का ध्येय होना चाहिये। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि सुख वृत्ति दुःख के अभाव का नाम है। संसार में सुख भी है और उसकी वास्तविक सत्ता भी है। परन्तु दुःख का प्रभुत्व होने के कारण उसकी सत्ता दबी हुई प्रतीत होती है।

वस्तुतः दो प्रकार के दुःख हैं—एक शारीरिक और दूसरे मानसिक। शारीरिक दुःख तो बीमारी, रोगादि हैं। मानसिक दुःख, राग, द्वेष, क्रोध, लोभ, अहंकार, ममता आदि हैं।

उन दोनों का कारण—

"हेयं दुःखमनागतम्।
तस्य हेतुर्विद्या
द्रष्टृदृश्योः संयोगो हेय हेतुः।
तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।"

अविद्या के कारण द्रष्टा और दृश्य का संयोग ही दुःखों का कारण है।

द्रष्टा कहते हैं आत्मा को। दृश्य कहते हैं प्रकृति को। प्रकृति में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का समावेश है। जब मन और बुद्धि से आत्मा पराभूत हो जाता है। अज्ञान वश उसकी क्रिया को अपनी क्रिया समझने लगता है। तब वह उनमें लिप्त हो जाता है। उस समय अपने स्वरूप में नहीं रहता। यह अज्ञान है और यह ही दुःखो का मूल कारण है।

यह अज्ञान तब हटेगा जब द्रष्टा और दृश्य का संयोग इस प्रकार हटाया जावे कि दृश्य का द्रष्टा पर प्रभुत्व न रहे; प्रत्युत द्रष्टा का दृश्य पर प्रभुत्व हो जावे। उसका एकमात्र उपाय निर्मल विवेकख्याति है। उस निर्मल विवेकख्याति के आठ अङ्ग हैं—

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

इन सब अङ्गों का गीता में बड़े सुन्दर शब्दों में वर्णन है। यह ही गीता का राज योग है।

पहले यम लीजिये—

यम पांच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

नियम भी पांच हैं—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान।

गीता के निम्न लिखित दैवीसम्पद् के श्लोक भी इसी आशय को दर्शाते हैं—

"अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥"
"अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥"
"तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥"

हे भारत ! निर्भयता, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञान और योग में स्थिति, दान और इन्द्रिय निग्रह, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन, जीवमात्र पर दया, अलोलुपता, मृदुता, लज्जा, अचलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह और आत्मश्लाघा का त्याग, ये बातें दैवी सम्पत्ति वाले पुरुष में होती हैं।

ये दैवी सम्पत्ति के उपरोक्त अङ्ग यम तथा नियमों के द्योतक हैं। गीता में इन यम तथा नियमों की सुन्दर व्याख्या भी उपलब्ध होती है और उस तप की निन्दा भी की है, जो आजकल केवल दिखलावे के तौर पर किया जाता है।

"अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥"

जो शास्त्र की विधि को छोड़कर दम्भ और अहंकार से आवृत हुए तथा काम और राग में फँसे

हुए घोर तप करते हैं, वे झूठा तप करने वाले हैं।

" कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मांचैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्धयासुर निश्चयान् ॥

जो मनुष्य झूठा तप करके न केवल शरीर के पञ्चमहाभूतों को ही, वरन् शरीर के अन्दर रहने वाले मुझको भी कष्ट देता है। उसे अविवेकी और आसुरी बुद्धि वाला जानना चाहिये।

गीता के निम्न श्लोक राज योग के आसन से लेकर समाधि तक व्यवस्था करने में उपयुक्त हैं—

"शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥"

शुद्ध भूमि में वस्त्र, मृग चर्म तथा कुशा क्रम से एक पर एक को रखकर अपने स्थिर आसन को बनाये। यह आसन न ही बहुच ऊँचा हो और न ही बहुत नीचा हो।

"तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥"

फिर उस आसन पर बैठकर अपने मन को एकाग्र करके चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में करके अन्त:करण की शुद्धि के लिये योग का अभ्यास करे ।

**समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥**

शरीर, सिर और गर्दन को समान और अचल धारण किये हुए दृढ़ होकर अपनी नासिका के अग्रभाग को मनसे देखे, अन्य दिशाओं को न देखे तथा उसी में तन्मय हो जाये ।

इस प्रकार ध्यान लगाने से चित्त निरुद्ध हुआ प्रतीत होगा और आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जायगा । आत्मा का दृश्य से संयोग हट जायगा । इसी का नाम राज योग है ।

धारणा :—

"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा"

किसी स्थान विशेष पर चित्त को बांधना उसे धारणा कहते हैं।

ध्यान :—

"तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्"

जब उस धारणा में ज्ञान का निरन्तर प्रवाह बना रहे उसे ध्यान कहते हैं।

समाधि :—

'तदेवार्थ मात्र निर्भासं स्वरूप शून्यमिव समाधिः'

जब ध्याता अपने आपको भूल जाये, केवल ध्येय ही सन्मुख रहे और उसी में तन्मय हो जाये उसे समाधि कहते हैं।

संयम :—

"त्रययेकत्रसंयमः"

धारणा, ध्यान और समाधि जब तीनों एक ही वस्तु में हों तो उसे संयम कहते हैं।

नासिका के अग्रभाग पर पहले धारणा हुई;

उसी में ध्यानावस्थित हुए और फिर उसी में समाहित होगये। उस समय ज्ञान का द्वार स्वयं खुल जाता है और आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है।

मन अथवा चित्त ही एक apparatus है, जिसके द्वारा आत्मा की शक्तियों का विकास होता है। इसका सुव्यवस्थित तथा शुद्ध होना अत्यन्त आवश्यक है।

अर्जुन भगवान् कृष्ण से कहता है—

'योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥'
"चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥"

हे कृष्ण! जो यह ध्यान योग आपने समत्व स्वभाव से कहा है; इसकी मैं मन के चञ्चल होने से बहुत काल तक ठहरने वाली स्थित को नहीं देखता हूँ। यह मन बड़ा चञ्चल प्रमथन स्वभाव

वाला है; बड़ा दृढ़ तथा बलवान् है। इसलिये इसका वश में करना, मैं वायु की तरह अति दुष्कर मानता हूँ।

भगवान् कृष्ण उत्तर देते हैं—

तू ठीक कहता है। यह मन ऐसा ही है जैसा तू वर्णन कर रहा है। इसे काबू में करने का एकमात्र उपाय निम्न है—

"अभ्यासेन तु कौन्तेय; वैराग्येण च गृह्यते"

अभ्यास और वैराग्य से यह मन काबू में किया जा सकता है।

भगवान् पतञ्जलि मुनि ने भी यह ही लिखा है—

"अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः"

अभ्यास और वैराग्य से मन की वृत्तियों को रोका जा सकता है।

Mr. Balguy ने भी इसी आशय को प्रगट

किया है--

BALGUY. "A restless mind like a rolling stone gathers nothing but dirt and mire, little or no good will cleave to it and it is sure to leave peace or quietness behind it."

BIBLE. "He that ruleth his mind is better than he that taketh a city.

Dr. AMBER CROMBIE. "Learn to feel a supreme interest in the discipline of the mind."

राज योग (Mind-Control)

"अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥"

किससे प्रेरित हुआ यह मनुष्य पाप करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य न चाहता हुआ भी पाप में प्रवृत्त हो जाता है। ऐसा क्यों होता है?

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥"

काम और क्रोध ही हैं जो रजोगुण से उत्पन्न हुए हैं; ये बड़े पेटू हैं और पाप के गढ़े में डालने वाले हैं; इनको अपना शत्रु समझो।

" धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ "

जिस प्रकार आग धुएं से घिरी रहती है या शीशे के ऊपर मैल चढ़ा रहता है या गर्भ झिल्ली से ढका रहता है, ठीक इसी प्रकार मनुष्य की बुद्धि काम तथा क्रोध रूपी शत्रु से ढकी हुई है।

"त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥'

नरक के तीन द्वार हैं; जिनसे मनुष्य का नाश होता है। वे द्वार हैं काम, क्रोध और लोभ। इसलिये इन तीनों का त्याग करे।

"एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥"

इन अन्धकार के दरवाजों से आज़ाद हुआ २ मनुष्य अपना भला करने के योग्य हो जाता है और अपने उद्देश्य में सफल होता है।

Note:—जब मनुष्य काम क्रोध और लोभ का

परित्याग कर देता है और मन कुछ निर्मल होने लगता है; तब वह राज योग के करने का अधिकारी होता है। वह राज योग क्या है ? उसका वर्णन गीता में निम्न प्रकार है—

"योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥"

राज योगी किसी एकान्त स्थान में जाकर अकेला रह कर मन अपने वश में करता हुआ और किसी पदार्थ की इच्छा न रखता हुआ निरन्तर अपने आत्मा को साक्षात्कार करने में तत्पर रहे।

"शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥"

स्थान साफ हो और स्थिर आसन पर अपने आपको स्थित करे। वह आसन न बहुत ऊँचा हो और न ही बहुत नीचा हो; उस आसन पर सबसे

नीचे कुशा उसके ऊपर काले मृग की छाल और उसके ऊपर पवित्र कपड़ा हो।

"तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यत चित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥"

ऐसे स्थान तथा आसन पर स्थित होकर मन को एकाग्र करता हुआ तथा अपने चित्त और इन्द्रियों का संयम करता हुआ अपनी आत्मा की शुद्धि के लिये योगी योग में जुट जावे।

" समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥"

अपने शरीर, सिर और गर्दन को सीधा रखे और स्थिर तथा अचल रखे। नासिका के अग्रभाग पर ध्यान लगावे और इधर उधर न देखे।

" प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत् मत्परः ॥"

आन्तरिक शान्ति में रहता हुआ, भय से रहित ब्रह्मचर्य के व्रत में स्थित, मन को संयम में रखता हुआ और चित्त को भगवान् में जोड़ता हुआ योगी, उसी भगवान् की प्राप्ति को लक्ष्य में रखे।

"नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥"

योग उसके लिये नहीं है, जो बहुत खाता है और न ही उसके लिये है जो कुछ भी नहीं खाता। योग उसके लिये भी नहीं है जो बहुत सोता हो और न ही उसके लिये है जो हर समय जागता रहता है और बिल्कुल भी नहीं सोता।

"युक्ताहारविहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥"

जिसका आहार, विहार, चेष्टा, कर्म, जागना तथा सोना युक्त है; मुनासिब है, नपा तुला है; उसको योग दुःखों के दूर करने वाला साबित होता है।

" यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥"

जिस योगी का चित्त अपने वश में होगया है और जो सर्वदा ध्यानावस्थित रहता है, उसकी उपमा उस स्थिर दीपक से दी गई है जो एक ऐसे स्थान पर रखा हुआ है जहां हवा सर्वदा शान्त है।

" संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥"

सब वासनाओं से मन को आज़ाद करता हुआ और चारों ओर सब विषयों को मन से रोकता हुआ योगी—

" शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थंमनः कृत्वानकिञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥"

मनुष्य धैर्य पूर्वक अपनी बुद्धि के प्रयोग से धीरे २ अपने आपको देखने का प्रयत्न करे और इस प्रकार अपने मन को आत्मा में स्थित करता हुआ

किसी प्रकार कभी चिन्तन न करे।

" यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥"

जब २ मन चञ्चल और अस्थिर होने लगे और इधर उधर जाने लगे तभी उस ओर से उसे वश में करने का उद्योग करे और उसे अपनी आत्मा में स्थिर करने का प्रयत्न करे।

"प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्म भूतमकल्मषम्॥"

उसी योगी को ही निर्मल सुख की प्राप्ति होती है, जिसका मन सर्वथा शान्त हो चुका है, जिसके मन की चञ्चलता सर्वथा नष्ट हो चुकी है और जो ब्रह्म में लीन होने की तैय्यारी में हो।

"सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥"

इस प्रकार जब योगी योग युक्त हो जाता है,

वह सदा सन्तुष्ट रहता है। इन्द्रियों पर उसका संयम हो जाता है। निश्चय उसका दृढ़ हो जाता है। मन और बुद्धि को भगवान् के अर्पण कर देता है। ऐसा वह भक्त भगवान् को प्यारा लगता है।

"यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥"

वह योगी किसी व्यक्ति या वस्तु से उद्विग्न नहीं होता और न ही कोई व्यक्ति उसे उद्विग्न कर सकता है। हर्ष, क्रोध तथा भय आदि से सर्वथा आज़ाद है। वह भगवान् को भी सबसे अधिक प्यारा है।

"अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भ परित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥"

उसे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं रहती वह पवित्र और अपने कर्तव्य में चतुर रहता है। सुख दुःख को उपेक्षा वृत्ति से देखता है; कोई दुःख उसे कष्ट नहीं देता। कोई कर्म सकाम बुद्धि से नहीं करता। ऐसा योगी ही भगवान् को प्यारा है।

गीता
श्रौर
भक्ति योग

The Philosophy of Gita begins where the English Philosophy ends.

Paul Deussen

गीता की फिलासफ़ी वहां से प्रारम्भ होती है जहां अंग्रेजी फिलासफ़ी समाप्त होती है।

पाल ड्यूसन

गीता और भक्ति योग

भक्ति का लक्षण शाण्डिल्य सूत्र में इस प्रकार किया गया है—

"सा (भक्तिः) परानुरक्तिरीश्वरे"

ईश्वर के प्रति निरतिशय प्रेम को भक्ति कहते हैं और वह प्रेम परमेश्वर में—

"अहेतुकयव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे"

निर्हेतुक, निष्काम और निरन्तर हो।

परन्तु प्रश्न यह है कि परमात्मा तो अव्यक्त हैं; निराकार है, उसकी कोई मूर्ति नहीं है। अव्यक्त (Abstractions) में निरन्तर प्रेम होना अत्यन्त

कठिन है। इस पहेली को कैसे हल किया जावे। अव्यक्त (Abstract) की कल्पना तभी जागृत होती है; जब पहले उसकी व्यक्त (Concrete) शकलें मालूम हो जावें। जब हम लाल, हरे अनेक व्यक्त रंगों के पदार्थ पहले आखों से देख लेते हैं, तभी रंग की सामान्य और अव्यक्त (abstract) कल्पना जागृत होती है। रेखा गणित की शिक्षा में जिस प्रकार रेखा को जो अनादि, अनन्त और बिना चौड़ाई के है, उसे अध्यापक लोग कल्पना कर ब्लैकबोर्ड पर एक छोटे से नमूने में व्यक्त करके दिखलाते हैं। उसी प्रकार परमेश्वर जो निराकार, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी है, उसको माता पिता आदि के रूप में व्यक्त रूप से सम्बोधन कर; उसमें प्रेम तथा भक्ति प्रगट की जाती है। इसीलिये अर्जुन कृष्ण भगवान् से पूछता है—

"एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥"

हे भगवन् इस प्रकार सदा योग युक्त होकर, जो भक्त तुम्हारी उपासना करते हैं। और जो अव्यक्त अक्षर अर्थात ब्रह्म की उपासना करते हैं उनमें उत्तम योगी कौन है।

जब हम परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं, और उसे माता, पिता, बन्धु तथा मित्र के नाम से सम्बोधन करते हैं; तब हम व्यक्त रूप से ईश्वर की आराधना कर रहे हैं। जिस प्रकार माता, पिता से हम याचना करते हैं और वस्तुएं मांगते हैं; उसी प्रकार प्रार्थना करते समय परमात्मा से हम याचना करते रहते हैं। ऐसे अनेक भक्त मिलेंगे जो प्रार्थना करते करते जार जार रोने लगते हैं; कई नाचने लगते हैं और कई उसमें मस्त हो जाते हैं। ये सब बातें व्यक्त उपासना की द्योतक हैं। परन्तु जिस समय हम अव्यक्त (abstract) पर या ब्रह्म के गुणों पर तन्मय होने की कोशिश करते हैं; उस समय हम कोई याचना नहीं

करते हैं; केवल ध्यानावस्थित होते हैं। और अपने आपको भूलकर, उसमें तल्लीन होने का यत्न करते हैं। ब्रह्म के गुणों को धारण करने के लिये प्रयत्न करते हैं। यह ही अव्यक्त ब्रह्म की उपासना कही जाती है। इसी समस्या को हल करने के लिये अर्जुन भगवान् कृष्ण से उपरोक्त श्लोक में पूछता है।

भगवान उत्तर देते हैं—

"क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥"

जो अव्यक्त ब्रह्म की उपासना करते हैं; उनको अधिक क्लेश होते हैं; क्योंकि अव्यक्त उपासना का मार्ग बड़े कष्ट से सिद्ध होता है। यह यथार्थ वचन है। इसमें सन्देह नहीं कि यह रास्ता बड़ा कठिन है; क्योंकि मनुष्य के मन की रचना ऐसी है कि जो वस्तु अव्यक्त होती है और इन्द्रियों को अगोचर है उस पर प्रेम रखना कठिन और दुःसाध्य है।

भगवान् इन दोनों उपासनाओं के भेद को अधिक स्पष्ट करते हैं—

"चतुर्विधा भजन्ते माम् जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।।"

चार प्रकार के लोग भगवान् का भजन करते हैं—एक वे जो दुःखी हैं, दूसरे वे जो जिज्ञासु हैं, तीसरे वे जो स्वार्थी हैं और चौथे वे जो ज्ञानी हैं। ज्ञानी ही अव्यक्त ब्रह्म की उपासना करने में समर्थ हैं।

दूसरा अर्थ भक्ति योग का यह है कि हम परमात्मा की बनाई हुई सृष्टि की भक्ति करें। भगवान् की बनाई हुई सृष्टि में मनुष्य एक सर्वोत्तम वस्तु है। जो भक्त मनुष्य मात्र की निष्काम सेवा कर रहे हैं; वे भी भगवान् की भक्ति कर रहे हैं। "सर्वभूत हिते रताः" जो सब भूतों के हित में रत हैं, "ते प्राप्नुवन्ति मामेव" वे भी परमात्मा तक पहुँच जाते हैं।

"सर्वभूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम"

सब भूतों के हितों में रत हो जाना यही मेरा सत्य मत है।

जिसका कोई न हो हृदय से उसे लगावे।
प्राणिमात्र के लिये प्रेम की ज्योति जगावे॥
सबमें विभु को व्याप्त जान सबको अपनावे।
है बस ऐसा वही भक्त की पदवी पावे॥

"अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥"

जो प्राणिमात्र में द्वेष रहित हो गया है; जो सब भूतों के साथ मित्रता पूर्वक रहता है; जो ममत्व बुद्धि और अहंकार से रहित है; जो दुःख और सुख में समान है और जो क्षमाशील है—वह

"यो मद्भतः स मे प्रियः"

ऐसा जो मेरा भक्त है, वह मेरा प्यारा भक्त है। वे लोग जिन्होंने समाज सेवा अथवा देश की सेवा को ही मुख्य धर्म समझ लिया है।

"परोपकाराय सतां विभूतयः"

जिनका समग्र ऐश्वर्य्य परोपकार के लिये ही अर्पित हो चुका है; वे सब लोग भी ईश्वर के परम भक्त हैं। उनको भी वह फल मिलेगा, जो एकान्त में बैठे ध्यानावस्थित हुए योगी को मिलेगा।

भगवान् ने भक्ति की चार श्रेणियां बतलाई हैं।

प्रथम श्रेणी यह है—

"मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय"

सब कर्तव्यों को छोड़कर मनुष्य भगवान् की शरण में चला जावे; उसमें ही अपने मन और बुद्धि को जोड़ दे।

द्वितीय श्रेणी यह है—

"अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥"

यदि उपरोक्त प्रकार से भक्ति न हो सके तब

अभ्यास योग से मुझे प्राप्त करने की इच्छा कर। अभ्यास योग का तात्पर्य राज योग है। (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि)।

तृतीय श्रेणी यह है—

"अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव"

यदि राज योग भी नहीं कर सकता तो मेरी प्राप्ति के लिये शास्त्रों में बतलाये हुए ज्ञान, ध्यान, भजन, पूजा, पाठ आदि कर्म करता जा। मदर्थ कर्म करने से भी तू सिद्धि पावेगा।

चतुर्थ श्रेणी यह है—

यदि उपरोक्त साधन भी नहीं कर सकता तब

"सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्"

सब कर्मों के फलों को त्याग कर (लोकोपकार में) अपने जीवन को लगा दे।

ये भक्ति की चार सीढ़ियां हैं; इनमें से जो

कुछ भी किसी के अनुकूल है; उसके अनुसार उसे क्रिया में परिवर्तित कर देना चाहिये। परन्तु चाहे कोई भी तरीका हो; उन सब साधनों में श्रद्धा का होना आवश्यक है।

"श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः"

यह पुरुष श्रद्धामय है। जैसी जिसकी श्रद्धा होती है, वैसा ही वह हो जाता है।

"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥"

जब श्रद्धावान् पुरुष इन्द्रिय निग्रह द्वारा ज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न करने लगता है; तब उसे ब्रह्म ज्ञान का अनुभव होता है और फिर उस ज्ञान से उसे शीघ्र ही पूर्ण शान्ति मिलती है।

"अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति"

जिसे न तो अपनी बुद्धि है और न श्रद्धा है उसका सर्वथा नाश ही समझिये।

सब ज्ञान की पूर्ति श्रद्धा के बिना नहीं हो सकती। बुद्धि गम्य ज्ञान की पूर्ति होने के लिये भी श्रद्धा, दया, प्रेम, वात्सल्य तथा स्वाभाविक वृत्तियों की आवश्यकता है। ज्ञान की प्राप्ति के साधन तीन प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।

ये तीनों प्रमाण श्रद्धा पर आश्रित हैं। आज सूर्य निकला है; कल भी निकलेगा—ऐसा कहना भी विश्वास का द्योतक है।

शब्द प्रमाण सर्वथा श्रद्धा पर आश्रित है। जो कुछ हम पुस्तकों में पढ़ते हैं, उन्हें सत्य मान कर ही उनसे लाभ उठाते हैं। हिमालय की कितनी ऊँचाई है? हम भूगोल की पुस्तक में पढ़ी हुई २३००० फीट संख्या तुरन्त ही बता देते हैं। इसमें से शायद कोई भी नहीं जो इस ऊँचाई तक पहुँचा हो। संसार की मुख्य २ घटनाएं हम प्रति दिन अखबारों में पढ़ते हैं और बिना किसी संकोच के उन्हें सत्य समझ लेते हैं। यह क्यों? इसलिये

कि श्रद्धा और विश्वास एक नैसर्गिक मनोवृत्ति है, जो प्रत्येक मनुष्य में पाई जाती है।

हमें पहले किसी वस्तु का अनुभव होता है। उसके पश्चात उसकी उपपत्ति (सिद्धि) बतलाई जाती है। न्यूटन ने पेड़ पर से गिरते हुए आम देखे थे। पहले उसे अनुभव हुआ था और तब उसने उसकी उपपत्ति की तथा The law of Gravity मालूम किया।

अध्यात्म शास्त्र का भी यही नियम है। पहले अनुभव होता है। फिर उस पर विश्वास होता है और उसके पश्चात बुद्धि द्वारा उसकी उपपत्ति की खोज की जाती है।

"श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।"

श्वेतकेतु को अपने पिता से बताया हुआ ब्रह्म ज्ञान समझ न आया तब पिता ने यही कहा "श्रद्धत्स्व" श्रद्धा रख।

जब बाष्कलि ने बाह्य से कहा—"हे महाराज ! ब्रह्म का स्वरूप क्या है ?" कोई उत्तर नहीं मिला। तब पुनः २ यही प्रश्न किया गया, परन्तु वे चुप रहे। अन्त में बाष्कलि ने कहा—"अरे मैं तेरे प्रश्नों का उत्तर तभी से दे रहा हूँ ; परन्तु तुझे समझ में नहीं आरहा। मैं क्या करूँ। ब्रह्म का स्वरूप बतलाया नहीं जा सकता। शान्त रहना; चुप रहना; और श्रद्धा पूर्वक अपने कर्तव्यों का पालन करना ही, ब्रह्म को जानने के साधन हैं।

सत्यकाम अपने गुरु हरिद्रुमत के पास ब्रह्म विद्या प्राप्त करने के लिये जाता है। गुरु आज्ञा देता है कि ये २०० गायें हैं, इन्हें लेकर जंगल में चराओ। जब ये दुगुनी हो जायें, तब उन्हें मेरे पास वापिस लाओ। तब ब्रह्म ज्ञान दूँगा। वह छोटा सा बालक श्रद्धा से युक्त होकर ऐसा ही करता है। गायों की सेवा में रात दिन निमग्न रहता है। उन्हीं श्रद्धा से पालन किये हुए वचनों

से ही उसे ब्रह्म ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इसलिये श्रद्धा तथा विश्वास भक्ति के लिये आवश्यक साधन हैं।

दूसरा साधन Sincerity (सत्यता) है। मनुष्य पाखण्ड से रहित हो जावे। जिज्ञासा भाव से उसे प्राप्त करने की चेष्टा करे। एक दुकानदार सारा दिन अपने व्यापार में निमग्न हुआ खाना पीना सब भूल जाता है। तब जाकर वह दो टके कमा सकता है। हम पांच मिनट, आंखें मूँद कर भी भगवान् के लिये नहीं दे सकते हैं। फिर चाहते हैं कि उसकी छवि हमारे सामने दृष्टि गोचर हो जावे। यह कैसे हो सकता है?। यदि हमारे अन्दर वास्तव में सत्यता है, तो उसमें उसी तरह तत्पर रहें जैसे व्यापार में रहते हैं। तभी कुछ प्राप्त होगा।

तीसरा साधन Surrender आत्म समर्पण है।

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः ॥"

सब धर्मों को त्याग कर भगवान् की शरण में चला जा। इसे ही self surrender कहते हैं।

भक्ति तब तक उपलब्ध नहीं हो सकती जब तक कि Faith (श्रद्धा) Sincerity (सत्यता) and self surrender (आत्म समर्पण) ये तीनों गुण मनुष्य के हृदयगत (हृदयङ्गम) नहीं होते। यही भक्ति मार्ग है।

तब महात्मा तुकाराम के वचनों के बोलने का हमें अधिकार है।

रहता है सर्वत्र ही व्यापक एक समान।
पर निज भक्तों के लिये छोटा है भगवान् ॥

भक्ति योग के मुख्य २ श्लोक

भक्ति कौन करते हैं—

"चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥"

चार प्रकार के सज्जन पुरुष भगवान् की भक्ति करते हैं। एक वे जो दुःखी हैं, दूसरे वे जो ज्ञानेच्छु हैं, तीसरे वे जो अपना इष्ट सिद्ध करना चाहते हैं और चौथे वे जो ज्ञानी हैं।

भक्ति करने के लिये प्रारम्भिक शर्त श्रद्धा है—

" सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥"

भक्ति की प्रारम्भिक शर्त श्रद्धा है। स्वभाव से ही मनुष्य श्रद्धावान् होता है। जैसी श्रद्धा मनुष्य के अन्दर होगी; उसी के अनुसार उसकी भक्ति का विकास होगा।

"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥"

श्रद्धा युक्त मनुष्य ही भक्ति रूपी ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। उस भक्ति रूपी ज्ञान को उपलब्ध करके वह शान्ति उपलब्ध कर सकता है। ज्ञान प्राप्त होने पर ही शीघ्र शान्ति मिलती है।

"योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥"

जो श्रद्धा सहित मेरे आश्रित होकर मुझे भजते हैं; मेरे मत में योगियों में वे ही श्रेष्ठ हैं।

"मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥"

जो श्रद्धा से नित्य युक्त और एकाग्र होकर मेरी उपासना करते हैं; वे मेरे मत में श्रेष्ठ हैं।

भक्ति करने के लिये दूसरी शर्त तल्लीन होना है–

"मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥"

मुझमें ही अपने मन को गाड़ दे और अपनी बुद्धि को मुझमें दाखिल कर दे। इस प्रकार तू मुझमें रह सकेगा। इसमें कोई संशय नहीं है।

"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
"मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रति जाने प्रियोऽसि मे॥"

मुझमें ही चित्त अर्पण करो, मेरे भक्त बनो, मेरा भजन और मुझे ही नमस्कार करो। तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो। मैं सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम निश्चय ही मुझे पा लोगे।

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः॥"

सब धर्मों का परित्याग कर एक मेरी शरण लो। मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त करूँगा। तुम शोक मत करो।

भक्ति के दो रूप हैं—

अव्यक्त ब्रह्म की उपासना और व्यक्त भगवान् की आराधना।

अव्यक्त ब्रह्म की उपासना=Abstract form of worshipping God.

व्यक्त ब्रह्म की उपासना=Concrete form of worshipping God.

व्यक्त ब्रह्म की उपासना में Greatest good of the greatest number (अधिक संख्या का अधिक सुख) का फार्मूला भी अवगत है।

इसलिये भगवान् कहते हैं—

"संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥"

जो लोग इन्द्रियों का संयम कर, सर्वत्र सम दृष्टि तथा सब प्राणिमात्र के हित में रत हैं, वे भी मुझे प्राप्त होते हैं।

दूसरा व्यक्त ब्रह्म की उपासना में आत्म समर्पण है—

"ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥"

जो लोग अपने सब कर्मों को मुझ ही में समर्पण कर मुझमें ही लीन हो जाते हैं और जो मेरा अनन्य योग द्वारा ध्यान करते हैं।

"तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशित चेतसाम् ॥"

उनका (मुझमें चित्त अर्पण करने वालों का) मैं मृत्यु युक्त संसार-सागर से तुरन्त ही उद्धार करता हूँ।

"अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥"

यदि अभ्यास में भी असमर्थ हो तो मत्कर्म परायण हो; मेरे लिये कर्मों को करते हुए भी सिद्धि को प्राप्त होगे ।

"अथैतदप्यशक्तोऽसिकर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥"

यदि यह भी नहीं कर सकते तो संयत चित्त होकर सब कर्मों के फलों का त्याग करो ।

दूसरी भक्ति अव्यक्त ब्रह्म की उपासना है—

"क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥"

जो अव्यक्त ब्रह्म की उपासना करते हैं, उन्हें कष्ट अधिक होते हैं; क्योंकि देहाभिमानियों को अव्यक्त का मार्ग दुःख से प्राप्त होता है ।

"ते प्राप्नुवन्ति मामेव

परन्तु वे भी मुझे ही प्राप्त होते हैं।

भक्ति का फल—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥"

हे पाण्डव! जो मेरा भक्त अनासक्त होकर मेरे लिये ही कर्म करने वाला, मुझको परम पुरुषार्थ जानने वाला है और सारे भूतों से वैर रहित है, वही मुझे प्राप्त होता है।

दूसरा फल—

"तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केन चित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मेप्रियो नरः॥"

निन्दा और स्तुति में समान, थोड़े में ही सन्तुष्ट मननशील, ममतारहित तथा स्थिर बुद्धि; ऐसा भक्त ही मेरा प्यारा है।

तीसरा फल—

" सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थ द्वेष्य बन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ "

सुहृद, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी, सम्बन्धी, साधु तथा पापी को समदृष्टि से देखता है; वह अधिक श्रेष्ट है; वही सच्चा भक्त है।

" सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ "

जिसका मन भक्ति योग में स्थिर हो गया है, उसकी दृष्टि सर्वत्र समान रहती है। वह अपने को सब भूतों में तथा सब भूतों को अपने में देखता है।

" येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ॥
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ "

उन भक्तों के जिनके पुण्य कर्मों से पाप नष्ट हो गये हैं, वे ही मनुष्य दुःखसुखादि द्वन्द्वों के मोह

से छुटकारा पाकर निश्चय पूर्वक मेरी आराधना कर सकते हैं।

" अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥"

निस्पृह, पवित्र, दक्ष, उदासीन, क्लेश रहित और निष्काम भाव से कर्म करने वाला जो मेरा भक्त है, वह मुझे प्यारा है।
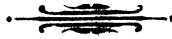
भक्त कौन ?

निर्वैर प्राणियों से, न जिसे मद ममता।
सन्तुष्ट, जिसे सुख दुःख द्वन्द में समता॥
श्रद्धालु दयालु कृपालु जिसे हो क्षमता।
रख शुद्ध आचरण कर्म योग में रमता॥

सब जीवों का हित जो नित मन में लाता।
पर उपकारी वह श्रेष्ठ भक्त कहलाता॥

दीनानाथ भार्गव "दिनेश"

गीता
और
वेदान्त

गीता और वेदान्त

इतिहास से पता लगता है कि गीता प्रचार के समय भारतवर्ष में मोक्ष-प्राप्ति के चार तरह के मार्ग प्रचलित थे—कर्म मार्ग, ज्ञान मार्ग, ध्यान मार्ग, और भक्ति मार्ग। जो जिस मार्ग का अवलम्बन करता था, वह उसी को ही सबसे उत्तम समझता था। परन्तु गीता में इन चारों मार्गों का समन्वय कर दिया है। और कर्म को प्रधानता दी है।

गीता के तेरहवें अध्याय में इन मार्गों का स्पष्टतया उल्लेख है।

"ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥"

"अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥"

कई ध्यान से ही अपने में ही आत्मा को देखते हैं, कई ज्ञान-योग से और कई कर्म-योग से, उसका साक्षात्कार करते हैं ।

पर जिनको इस प्रकार का ज्ञान नहीं है, वे दूसरों से सुनकर ध्यान करते हैं और इस प्रकार सुनकर ध्यान करने वाले भी मृत्यु को पार कर जाते हैं ।

कर्म-योग की तीन सीढ़ियां हैं —

(१) कर्म-फल की इच्छा का त्याग =

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"

कर्म करने में तुम्हारा अधिकार है फल में कदापि नहीं ।

(२) कर्तृत्व-अभिमान का परित्याग =

"प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥"

वही मनुष्य अपनी आत्मा को ठीक समझता है जो यह जानता है कि अभिमान रहित होकर मुझे कार्य करना है और जितना कार्य हो रहा है, वह प्रकृति के संपर्क से ही हो रहा है।

(३) ईश्वरार्पण होकर कर्म करना=

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्॥

हे कौन्तेय! तुम जो कुछ करते हो, खाते हो, आहुति देते हो, दान करते हो वह सब मुझे अर्पण करो।

इसी कर्म-योग को लक्ष्य में रखकर भगवान कहते हैं कि ज्ञान-योग द्वारा जो फल मिलता है, वही कर्म मार्ग के द्वारा भी प्राप्त होता है।

"सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥

ज्ञान-योग और कर्म-योग को जो पृथक् समझता है, वह मूर्ख है। पण्डित लोग ऐसा नहीं मानते। दोनों में यदि एक का भी उत्तम रीति से पालन किया जावे, तो दोनों का फल मिलता है।

इसलिये ज्ञान-मार्ग और कर्म-मार्ग का समन्वय तो स्पष्ट हो गया। अब आगे चलिये।

अद्वैतवादी जीव और ब्रह्म को एक समझते हैं। जीव को जो बन्धन मालूम होता है, वह अविद्या की परिकल्पना है। वस्तुत: जीव ब्रह्म ही है। जब अविद्या का नाश हो जायगा तब जीव और ब्रह्म का पृथक्त्व रूपी भ्रम नष्ट हो जायगा।

परन्तु गीता को यह मत मान्य नहीं है और न हीं उपरोक्त मत वैदिक सिद्धान्तानुकूल है।

भगवान् गीता में कहते हैं—

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च"

इस लोक में दो चीजें हैं—एक क्षर और

दूसरी अक्षर। एक प्रकृति का रूप और दूसरी अविनाशी हमारी आत्मा है परन्तु परमात्मा इनसे जुदा है। यथा—

"उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः"

परमात्मा इन दोनों से सर्वथा भिन्न है तथा पृथक् है।

इससे अधिक स्पष्ट अद्वैत मत का खण्डन और कहां मिलेगा ?

यदि जीव स्वभाव से मुक्त है, तो मोक्ष साधनोंपदेशविधि-व्यर्थ है। परन्तु भगवान १६ वें अध्याय में—

"दैवीसम्पद्विमोक्षाय"

दैवी सम्पत्ति विमोक्ष के लिये है ऐसा उपदेश क्यों दे रहे हैं ?।

वह दैवी सम्पत्ति निम्न है—

"अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥"
"अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुपत्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥"
"तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥"

किसी से भय न करना, खुश रहना, ज्ञान-प्राप्ति के लिये यत्नवान होना, दान देना, इन्द्रियों को अपने वश में रखना, यज्ञ करना, स्वाध्याय, तप, क्रोध न करना, सत्य बोलना, उदारभाव रखना, शान्त रहना, चुगली न करना, सब पर दया भाव रखना, निर्लोभ, नम्रता, गम्भीर रहना, क्षमा करना, धैर्य करना, पवित्र रहना, विद्वेष तथा अभिमान न करना। हे भारत! ये गुण उसको प्राप्त होते हैं जिसने दैवी सम्पत्ति भोगने के लिये ही जन्म ग्रहण किया हो।

चौदहवें अध्याय में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है।

वास्तविक वेदान्त वही है, जिसमें साधक का अन्तःकरण ज्ञान और कर्म के समुच्चय से सुसंस्कृत होगया है और पवित्र हो चुका है। तदनुसार भक्ति-योग द्वारा भगवान् को प्राप्त करने में समर्थ होचुका है।

भगवान् इस विषय में निम्न आदेश देते हैं—

"यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥"

"विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरतिनिःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥"

"वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञान तपसा पूता मद्भावमागताः॥"

"ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थोविजितेन्द्रियः
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥"

"सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थ द्वेष्य बन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥"

जो मनुष्य मन, इन्द्रियों और बुद्धि को अपने आधीन कर लेता है; इच्छा, भय, और क्रोध को जिसने दूर कर दिया है; जिसे मोक्ष प्राप्त करने की उत्कट इच्छा है; जो कामनाओं से रहित हो चुका है तथा जिसमें मिथ्याभिमान का भाव नष्ट हो चुका है उसी मनुष्य को शान्ति उपलब्ध होती है।

जिनका राग, भय और क्रोध नष्ट हो गया है; जिन्हें केवल भगवान् का ही आसरा है; जिनका स्नेह केवल ईश्वर से ही है ऐसे अनेक पुरुष ज्ञान-युक्त तप द्वारा पवित्र होकर ईश्वर को प्राप्त हुए हैं।

जिसने शास्त्र ज्ञान और अनुभव ज्ञान द्वारा अपने अन्त: करण (मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त) को मांज दिया है और वह पवित्र हो गया है। जिसकी इन्द्रियां अपने वश में हैं; जिसके लिये मिट्टी का ढेला, पत्थर और सोना एक समान है वही योगी है और वही मुक्त है।

सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, सम्बन्धी, साधु और पापी इन सब को समदृष्टि से देखता है, वह सबसे अधिक श्रेष्ठ है।

भगवान सच्चे वेदान्त को और अधिक स्पष्ट करते हैं।

"निर्मानमोहाजितसंगदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥"

"यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥"

जिनका अहंकार और मोह दूर हो गया है, जिनका संग दोष निवृत्त हो चुका है; जो आत्मा का साक्षात्कार करने में रत हो रहे हैं; जिनकी कामनायें दूर होगई हैं; जो सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से मुक्त हो गये हैं, ऐसे ज्ञानी परम-पद को प्राप्त करते हैं।

जब मनुष्य सब प्राणिमात्र को ईश्वर के आश्रित देखता है, तो वही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

"शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।"

उपरोक्त सब श्लोकों से स्पष्ट है कि कर्म-मार्ग तथा भक्ति-मार्ग का समन्वय ही मोक्ष का परम साधन है।

गीता में मन के संयम के साथ २ ईश्वर में चित्त लगाना ही सच्चा वेदान्त है।

"प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥

बन ब्रह्मचारी, शान्त, मन संयम करे भय मुक्त हो
हो मत्परायण चित्त मुझमें ही लगाए युक्त हो

(श्रीहरिगीता)

गीता
और
वैदिक धर्म

गीता और वैदिक धर्म

वैदिक धर्म निम्न सिद्धान्तों पर आश्रित है—

(१) ईश्वर, जीव, और प्रकृति अनादि हैं तथा सर्वथा यह एक दूसरे से भिन्न स्थिति रखते हैं।

(२) वेद ईश्वरीयज्ञान है।

(३) जीवन कर्ममय है। जब तक जीवन है तब तक ज्ञान युक्त कर्म करना आवश्यक है।

(४) जीवन—शरीर, बुद्धि, मन और आत्मा के समुच्चय का नाम है। इसलिये इन सब का एक साथ उन्नत होना आवश्यक है।

(५) प्राणि मात्र की सेवा तथा उसके साथ प्रेम

करना ही ईश्वर की सेवा करना है या ईश्वर के साथ प्रेम करना है।

(६) वर्ण व्यवस्था गुण कर्मानुसार है जन्मानुसार नहीं।

ये छै मौलिक सिद्धान्त हैं, जिन पर (वैदिक धर्म) आश्रित है। इनमें से यदि किसी भी सिद्धान्त की हम उपेक्षा करते हैं तो सचमुच वैदिक धर्म से अनभिज्ञता प्रगट करते हैं।

अब पहला सिद्धान्त लीजिये और उसे गीता में पढ़िये।

(१) ईश्वर, जीव और प्रकृति अनादि हैं।

गीता का १३वां अध्याय श्लोक १६ इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला है।

"प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्चगुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥"

अर्थ—

यह प्रकृति एवं पुरुष दोनों ही अनादि विचार तू
पैदा प्रकृति ही से समझ गुण तीन और विकार तू
(श्रीहरिगीता)

फिर ईश्वर के स्वरूप को प्रकृति और पुरुष से पृथक् वर्णन किया है।

"उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः"

उत्तम पुरुष जो परमात्मा है, वह इस प्रकृति और पुरुष से पृथक् है। उसी ईश्वर की प्राप्ति के साधन जो भगवान् कृष्ण ने बतलाये हैं वे ठीक वे ही हैं, जिन्हें वैदिक धर्म अपनाता है और ईश्वर के स्वरूप का वर्णन भी वैदिक सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल है।

ईश्वर के स्वरूप का वर्णन देखिये गीता १३ वां अध्याय १२, १३, १४, १५, १६, १७ श्लोक।

**"ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥"**

अर्थ—

अब वह बताता ज्ञेय तुझको, मोक्ष जिसको जान है
नहिं जो असत सत है, अनादि अपार ब्रह्म महान है
(श्रीहरिगीता)

"सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥"

अर्थ—

सर्वत्र उसके पाणि पद, सिर नेत्र मुख सब ओर ही
सब ओर उसके कान, जग व्यापे हुवे है सब वही
(श्रीहरिगीता)

"सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥"

अर्थ—

इन्द्रिय गुणों का है प्रकाशक किन्तु इन्द्रिय हीन है
हो अलग जग पालक, निर्गुण होकर गुणों में लीन है
(श्रीहरिगीता)

"बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ।

अर्थ—

भीतर व बाहर प्राणियों में दूर भी है पास भी
वह चर अचर अति सूक्ष्म है जाना नहीं जाता कभी
(श्रीहरिगीता)

"अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥"

अर्थ—

अविभक्त होकर प्राणियों में वह विभक्त सदैव है
वह ज्ञेय पालक और नाशक जन्मदाता देव है
(श्रीहरिगीता)

"ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥

अर्थ—

वह ज्योतियों की ज्योति है, तम से परे है, ज्ञान है
सब में बसा है, ज्ञेय है, वह ज्ञान गम्य महान है
(श्रीहरिगीता)

गीता में अन्य स्थानों पर भी ईश्वर के स्वरूप का वर्णन पाया जाता है।

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति"

ईश्वर सब प्राणिमात्र के हृदय में विराजमान है।

फिर एक प्रश्न उपस्थित होता है कि कृष्ण महाराज ने गीता में कई स्थानों पर अपने आपको ईश्वर का रूप लिखा है और जो विभूतियां और दिव्य दर्शन अर्जुन को कराये हैं; उनको कैसे समझाया जावे ? मेरी सम्मति में ये बातें ग्रन्थकार की शैली की द्योतक हैं। इतिहास पढ़ने से प्रतीत होता है कि महाभारत के जमाने से लेकर हज़रत मुहम्मद साहिब के जमाने तक यह शैली न केवल भारतवर्ष में ही प्रचलित थी, परन्तु अन्य देशों में भी इसका प्रचार था। गुरु अथवा आचार्य की अपने शिष्यों को प्रभावित करने के लिये अपने आपको ईश्वर के रूप में वर्णन करने की रीति सबसे

अधिक प्रभावशाली समझी जाती थी। अन्यथा यदि भगवान कृष्ण अपने आपको वस्तुतः ईश्वर समझते थे, तब ईश्वर का स्वरूप अलग वर्णन करने की क्या आवश्यकता थी? यथा

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्-
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।

अब द्वितीय सिद्धान्त लीजिये—

(२) वेद ईश्वरीय ज्ञान है।

कई विद्वानों का यह ख्याल है कि गीता में वेदों का खण्डन किया गया है।

इस पक्ष के पोषण में गीता के श्लोक पेश किये जाते हैं। अध्याय दूसरा श्लोक ४२, ४५, ४६।

"यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥"

अर्थ—

जो वेदवादी, कामना प्रिय, स्वर्गइच्छुक, मूढ़ जन
"अतिरिक्त इसके कुछ नहीं" कहते बढ़ाकर यों वचन
(श्रीहरिगीता)

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्य सत्त्वस्थो निर्योग क्षेम आत्मवान् ॥

अर्थ—

हैं वेद त्रिगुणों से भरे तुम गुणातीत महान हो
तज योग क्षेम व द्वन्द नित सत्त्वस्थ आत्मावान हो
(श्रीहरिगीता)

"यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥"

अर्थ—

जितना प्रयोजन कूप से चहुँ ओर निर्मल जल बहे
मतिमान ब्राह्मण का प्रयोजन वेद से उतना रहे
(श्रीहरिगीता)

परन्तु प्रश्न कर्ता ने इन श्लोकों का आशय अशुद्ध समझा है। इन श्लोकों का तात्पर्य केवल इतना ही है कि जो केवल शब्द शास्त्री हैं और जिन्होंने वैदिक ज्ञान को अपने जीवन में क्रियात्मिक रूप में परिणित नहीं किया, जो वादविवाद में रत हैं और सकाम भाव से कर्म करते हैं—उन जैसा हे अर्जुन! तू मत बन। यदि वेद का खण्डन करने वाले भगवान होते तो अन्य स्थान पर निम्न उपदेश क्यों देते?—

"कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।"

कर्म को वेद से पैदा हुआ जान और वेद को ईश्वर से पैदा हुआ जान।

"वेदानां सामवेदोऽस्मि।"

वेदों में मैं सामवेद हूँ।

ओ३म् तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।

ओ३म तत्-सत यह ब्रह्म के त्रिविध नाम कहे हैं।

सृष्टि के आदि से ब्राह्मण वेद और यज्ञादि उसी से रचे गये हैं।

४ र्थ अध्याय ३२ वां श्लोक—

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वाविमोक्ष्यसे॥

१५ वां अध्याय १५ वां श्लोक—

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्

उपरोक्त श्लोक "वेद की महिमा और उसके ईश्वरीय ज्ञान होने के सिद्धान्त को स्पष्ट प्रगट कर रहे हैं। इसी प्रकार अन्य श्लोक भी हैं; जिनसे ज़ाहिर है कि भगवान को वेद भी वैसे ही मान्य थे; जैसे वैदिक धर्मावलम्बियों को।

अब तृतीय सिद्धान्त लीजिये—

(३) **"जीवन कर्ममय है"**

गीता का तत्व इसी सिद्धान्त में छिपा हुआ है।

सब ब्रह्मज्ञान अर्जुन को देकर भी भगवान का उसे युद्ध के लिये तय्यार करना इस बात को ज़ाहिर कर रहा है कि भगवान कर्म का महत्व विशेष रूप से प्रकट करना चाहते थे। अन्यथा भगवान अर्जुन को किसी गुफा में बैठ जाने को आदेश दे सकते थे। गीता को यदि सम्यक्तया अध्ययन किया जावे तो पता लगेगा कि लगभग प्रत्येक अध्याय में कर्म की ही महिमा का वर्णन है।

उदाहरणार्थ—प्रत्येक अध्याय से एक या दो श्लोक यहां पेश किये जाते हैं—

२ य अध्याय ३७ वां श्लोक—

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत निश्चयः ॥

अर्थ—

जीते रहे तो राज्य लोगे मर गये तो स्वर्ग में
इस हेतु निश्चय युद्ध का करके उठो अरिवर्ग में

(श्रीहरिगीता)

२ य अध्याय ३८ वां श्लोक—

"सुख दुःखेसमे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥"

अर्थ—

जय हार लाभालाभ सुखदुख सम समझकर मन कहीं
फिर युद्ध कर तुझको धनुर्धर पाप यों होगा नहीं
(श्रीहरिगीता)

३ य अध्याय ८ वां श्लोक—

"नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥"

अर्थ—

बिन कर्म से नित श्रेष्ठ नियमित ! कर्म करना धर्म है
बिन कर्म के तन भी न सधता कर नियत जो कर्म है
(श्रीहरिगीता)

४ र्थ अध्याय १५ वां श्लोक—

"एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥"

अर्थ—

यह ज्ञान कर्म मुमुक्षु पुरुषों ने सदा पहले किये
प्राचीन पूर्वज कृत करो अब कर्म तुम इसही लिये
(श्रीहरिगीता)

५ म अध्याय १० वां श्लोक—

"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥"

अर्थ—

जो संग विरहित ब्रह्म अर्पण कर्म करता आप है
जल ज्यों कवंल दल पर नहीं लगता उसे यों पाप है
(श्रीहरिगीता)

६ ष्ठ अध्याय ३ य श्लोक—

"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥

अर्थ—

जो योग साधन चाहता मुनि, हेतु उसका कर्म है
हो योग में आरूढ़, उसका हेतु उपशम धर्म है
(श्रीहरिगीता)

८ म अध्याय ७ वां श्लोक –

"तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनो बुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥"

अर्थ—

इस हेतु मुझको नित निरन्तर ही सुमर कर युद्ध भी
संशय नहीं, मुझमें मिले, मन बुद्धि मुझमें धर सभी
(श्रीहरिगीता)

९ म अध्याय २७ श्लोक—

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥"

अर्थ—

कौन्तेय! जो कुछ भी करो तप, यज्ञ, आहुति, दान भी
नित खान पानादिक समर्पण तुम करो मेरे सभी
(श्रीहरिगीता)

१२ वां अध्याय ११ वां श्लोक—

"सर्व कर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।

११ वां अध्याय ५५ श्लोक—

"मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥"

अर्थ—

मत्पर हुआ मम हित करे जो कर्म संग विहीन हो
निर्वैर जीवों से रहे वह भक्त मुझमें लीन हो
(श्रीहरिगीता)

१४ वां अध्याय १६ श्लोक—

"कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥"

अर्थ—

फल पुण्य कर्मों का सदा शुभ श्रेष्ठ सात्विक ज्ञान है
फल दुःख रजोगुण का, तमोगुण फल सदा अज्ञान है
(श्रीहरिगीता)

१६ वां अध्याय २४ श्लोक—

"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥"

अर्थ—

इस हेतु कार्य अकार्य निर्णय मान शास्त्र प्रमाण ही
करना कहा जो शास्त्र में है, जानकर वह कर वही
(श्रीहरिगीता)

१७ वां अध्याय २६ श्लोक—

" सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥"

अर्थ—

सद् साधु भावों के लिये "सत्" का सदैव प्रयोग है
हे पार्थ उत्तम कर्म में 'सत्' शब्द का उपयोग है
(श्रीहरिगीता)

इस अध्याय में यज्ञ, दान, तप की व्याख्या है, जो सब शुभ कर्म हैं।

१८ वां अध्याय २, ४ श्लोक—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥"

अर्थ—

सब काम्य-कर्मन्यास ही सन्यास ज्ञानी मानते
सब कर्म फल के त्याग ही को त्याग विज्ञ बखानते

(श्रीहरिगीता)

**" यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥"**

अर्थ—

मख दान तप ये कर्म करने योग्य, त्याज्य न हैं कभी
मख दान तप विद्वान को भी शुद्ध करते हैं सभी

(श्रीहरिगीता)

इसी अध्याय में सात्विक कर्म, राजसिक कर्म तथा तामसिक कर्म की व्याख्या है ।

उपरोक्त श्लोकों से स्पष्ट है कि गीता एक कर्म प्रधान ग्रन्थ है और "जीवन कर्ममय है" इस सिद्धान्त का प्रचार करती है और यह ही वैदिक धर्म का एक मुख्य सिद्धान्त है ।

अब चतुर्थ सिद्धान्त लीजिये—

(४) जीवन जामय (Organic whole) है।

जीवन जामय है—इसका मतलब यह है कि जिन्दगी का प्रत्येक पहलू उन्नत होना चाहिये। जिन्दगी शरीर तथा आत्मा के संयोग का नाम है। केवल आत्मा मनुष्य नहीं और न ही केवल शरीर ही मनुष्य है। मनुष्य का मनुष्यत्व तभी प्रगट होता है जब आत्मा और शरीर का संयोग हो। यह संयोग ही जीवन है। जो पुरुष केवल शरीर की परवाह करता है, वह भी अधूरा और जो केवल आत्मा ही पुकारता है और उसका शरीर सर्वथा रोगी रहता है, उसे भी अधूरा समझो। वैदिक धर्म का उद्देश्य यही है कि शारीरिक, सामाजिक तथा आत्मिक उन्नति साथ साथ होनी चाहिये। इसी को भगवान् कृष्ण ने गीता में सुन्दर तथा तथ्य शब्दों में वर्णन किया है। जीवन जामय है—इसका दूसरा अर्थ यह है कि ज्ञान और

कर्म का समुच्चय ही मनुष्य का ध्येय होना चाहिये--

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति

ज्ञान और कर्म को जो सम देखता है।
वही देखता है। उसे ही यथार्थ ज्ञान है।

दिल वा दिमाग़ का इकट्ठा काम करना ही मनुष्य के जीवन को सार्थक बनाता है। इसलिये सूखा ज्ञान या विचार रहित कर्म दोनों त्याज्य हैं। वैदिक धर्म ज्ञान और कर्म के समुच्चय की नींव पर खड़ा है।

अब पांचवां सिद्धान्त लीजिये—

(५) "प्राणिमात्र की सेवा तथा उसके साथ प्रेम ही परमात्मा की सेवा तथा उसके साथ प्रेम करना है।"

वैदिक धर्म को पाप से घृणा है। परन्तु यदि किसी पापी से घृणा की जाती है तो वह ऋषि दयानन्द के आदेश के प्रतिकूल है।

HATE THE SIN AND NOT THE SINNER. "He who does not know how to love mankind can never know how to love God." ("In Tune with the Infinite"—Trine)

गीता में इसी सिद्धान्त को कई स्थानों पर प्रगट किया है।

१२ वां अध्याय ४, १३ श्लोक—

"संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥"

अर्थ—

सम बुद्धि रख सर्वत्र, सारी इन्द्रियों को साध कर
जग जीव के हित में लगे पाते मुझे वे श्रेष्ठ नर

(श्रीहरिगीता)

"अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥"

अर्थ—

बिन द्वेष सारे प्राणियों का मित्र करुणावान हो
सम दुःख सुख में मद न ममता, क्षमाशील महान हो
(श्रीहरिगीता)

इसी प्रकार अन्य कई स्थानों पर भी इसी बात को सुस्पष्ट किया है।

अब छठा सिद्धान्त लीजिये—

(६) वर्ण व्यवस्था गुण कर्मानुसार है। जन्मानुसार नहीं।

गीता में भगवान ने इसे स्पष्ट शब्दों में प्रगट किया है—

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः"

चारों वर्णों को गुण कर्मानुसार मैंने बनाया है। इसलिये हम समझते हैं कि गीता वैदिक धर्म के मुख्य २ सिद्धान्तों को स्पष्ट करने में विशेष रूप से सहायक है।

गीता का अधिकतर क्षेत्र मानुषी प्रकृति के अनुकूल है और इसीलिये इस ग्रन्थ का प्रचार सारे संसार में है। जितनी बार इसे पढ़ा जाये— यह ग्रन्थ नये विचार और नई भावनायें पैदा करता है।

गीता
में
विविध विषय

गीता में विविध विषय

भगवान् कृष्ण ने गीता में निम्न विषयों की विशेष व्याख्या की है, जिनका मनन करना आवश्यक है।

यज्ञ, दान, तप, आहार, ज्ञान, कर्म, त्याग, सन्यास जीवन मुक्ति, क्षर, अक्षर, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, पुरुष और प्रकृति।

यज्ञ—

यज्ञ का अर्थ गीता में परोपकार सेवा और त्याग है। महात्मा गांधी जी ने भी अनासक्ति योग में यज्ञ शब्द का यही अर्थ किया है। बाबू हीरेन्द्रनाथ जी ने "गीता में ईश्वर वाद" नामक

पुस्तक में इसी अर्थ को अपनाया है।

"यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥"

जो कर्म परोपकार के लिये किया जाता है, वह कर्मबन्धन का हेतु नहीं होता। जो कर्म स्वार्थवश किया जाता है, वह ही बन्धन का कारण है। इसलिये हे कौन्तेय! तू परोपकारार्थ कर्म कर, परन्तु उसके फल की इच्छा मत कर।

"यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्व किल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥"

जो दूसरों की निष्काम भाव से सेवा करते हुए शेष अन्न का भोग करते हैं, वे सब पापों से छुट जाते हैं और जो केवल अपने लिये खाते हैं तथा पकाते हैं वे पापी लोग महान् घोर पाप का भक्षण करते हैं।

"देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥"

तुम इस परोपकार वृत्ति से प्राणिमात्र को सन्तुष्ट करते रहो। इस प्रकार एक दूसरे को (उपकार तथा सेवा द्वारा) सन्तुष्ट करते हुए परम श्रेय अर्थात कल्याण को प्राप्त करलो।

नोट—देव का अर्थ प्राणिमात्र किया गया है। महात्मा गांधी जी ने इस शब्द का यही अर्थ किया है।

"गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थित चेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥"

असङ्ग (रागद्वेष रहित) युक्त, ज्ञान में स्थिर चित्त वाले और केवल परोपकार (यज्ञ) के लिये कर्म करने वाले पुरुष के समग्र कर्म विलीन हो जाते हैं।

यज्ञ अर्थात् परोपकार कई प्रकार से किया जाता

है। भगवान् इसे निम्न श्लोक में स्पष्ट करते हैं।

"द्रव्य यज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञा श्च यतयः संशितव्रताः ॥"

कोई द्रव्य, कोई तप रूप, कोई योग रूप, कोई स्वाध्याय रूप, कोई कर्मानुष्ठान रूप और कोई ज्ञान रूप यज्ञ करते हैं। (जो होम किया जाता है, उसे भी द्रव्य यज्ञ कहते हैं। होम भी एक उपकार है। जो सुगन्धित तथा पौष्टिक पदार्थ हम अपने लिये प्रयोग करते हैं, उन्हें अग्नि द्वारा सूक्ष्म कर हम अपने पड़ोसियों तक उसका फल पहुँचाते हैं। यह भी एक उपकार है)।

इस उपरोक्त श्लोक का सारांश यह है कि कई गरीबों का धनादि से पालन-पोषण करके द्रव्य रूप यज्ञ कर रहे हैं; कई दूसरों के लिये आपत्तियों को सहकर तप रूप यज्ञ कर रहे हैं; कई योग द्वारा दूसरों को अध्यात्मिक जीवन प्रदान कर योग रूप

यज्ञ कर रहे हैं। और कई ज्ञान द्वारा दूसरों की भलाई कर ज्ञान यज्ञ कर रहे हैं।

परन्तु भगवान कहते हैं—

"श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वंकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥"

द्रव्य द्वारा उपकार करने की अपेक्षा ज्ञान द्वारा उपकार करना श्रेष्ठ है। क्योंकि हे पार्थ! समस्त कर्मों का पर्यवसान ज्ञान में होता है।

"अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः ॥"

फल की आशा की आकांक्षा छोड़कर अपना कर्तव्य समझ कर तथा शास्त्र की विधि के अनुसार शान्तचित्त से जो परोपकार करता है, वह सात्विक यज्ञ है।

"अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥"

राजस यज्ञ (उपकार) वह है जो फल की इच्छा से या दम्भ से और ऐश्वर्य दिखलाने के लिये किया जाता है।

दान—

भारतवर्ष एक गरीब देश है, परन्तु फिर भी लाखों रुपये प्रतिवर्ष दान में लोग व्यय करते हैं। यदि दान की प्रथा भगवान् कृष्ण के आदेशानुसार हो जाय तो इस देश का बड़ा कल्याण हो और इस देश में कोई आपत्ति न रहे।

भगवान् दान के विषय में निम्न आदेश देते हैं—

"दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ॥"

हे अर्जुन! दान देना ही कर्तव्य है, ऐसे भाव से जो दान देश, काल और पात्र का ध्यान रखकर प्रत्युपकार न करने वाले के लिये दिया जाता है, वह दान सात्विक कहलाता है।

"यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥"

जो दान इस ख्याल से दिया जाता है कि उससे मेरा कार्य सिद्ध होगा, जो दान फल को उद्देश्य में रखकर दिया जाता है और जो दान क्लेश से दिया जाता है; वह राजसिक दान है ।

"अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥"

जो दान अयोग्य स्थान में, अयोग्य काल में तथा अपात्र मनुष्य में बिना सत्कार के दिया जाता है, वह तामसिक दान कहलाता है ।

सचमुच हमारे दान का बहुत सा भाग कुपात्र में दिया जाता है । कई धर्म स्थानों में जो दान दिया जाता है; वह प्रायः गाञ्जा, सुलफा, भांग, शराब तथा दुराचार आदि में काम आता है । काम तथा परिश्रम न करने की इच्छा से जो व्यक्ति

भगवे वस्त्र पहनकर दान लेते हैं और दूसरों पर आश्रित रहते हैं उनके लिये नरक का द्वार सदा खुला हुआ है।

तप—

तप का लक्षण जो भगवान् ने किया है, वह वस्तुतः बड़े ध्यान देने के योग्य है। आजकल तपस्वी वे बने हुए है जो वाह्य क्रियाओं से लोगों को धोखा देते हैं। कपड़े न पहनना, भूखा रहना, नंगा रहना, अपना हाथ सदा ऊपर उठाकर सुखा देना तथा पानी में खड़ा रहना ये सब तप भगवान् की दृष्टि में तामसिक हैं। इनसे कोई विशेष लाभ नहीं। भगवान् ने ऐसे तप की निन्दा की है। वास्तविक तप क्या है, उसे भगवान् ने तप के तीन भेद बतलाकर प्रगट किया है। वे भेद निम्न हैं—

"देव द्विज गुरु प्राज्ञ पूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥"

शारीरिक तप वह है, जिसमें अपने बुज़ुर्गों, गुरुओं और विद्वानों की पूजा की जाय; शरीर को साफ-सुथरा रक्खा जाय तथा ब्रह्मचर्य्य और अहिंसा का पालन किया जाय।

"अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥"

वाचिक तप वह है, जिसमें सर्वदा सत्य वचन का प्रयोग किया जावे; परन्तु वह सत्य वचन कड़वा न हो और ऐसा भी न हो जो दूसरे के लिये अहितकारी हो। स्वाध्याय और जप भी वाचिक तप है।

"मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥"

मानसिक तप वह है, जिसमें मन की प्रसन्नता, शान्त भाव, मौन, मन का विग्रह और अन्तःकरण की पवित्रता हो।

जब ये तप फल को न चाहने वाले निष्काम भाव से श्रद्धा पूर्वक किये जाते हैं। तब उपरोक्त तप सात्विक है और जब ये तप सत्कार, मान, पूजा और पाखण्ड से किये जाते हैं तब ये राजसिक हैं।

"मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥"

जो तप मूढ़ता पूर्वक हठ से मन, वाणी और शरीर की पीड़ा के सहित अथवा दूसरे के अनिष्ट के लिये किया जाता है, वह तप तामसिक है।

"अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥"

जो मनुष्य शास्त्र विधि से रहित घोर तप करते हैं; परन्तु मन उनका दम्भ तथा अहंकार से संयुक्त है कामनायें और आसक्ति का वेग मन में उपस्थित है।

"कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥"

ऐसे वे न केवल अपने शरीर को कष्ट देते हैं, परन्तु मुझे भी कष्ट देते हैं। जो उसके अन्दर विराजमान है; उन्हें अविवेकी और आसुरी बुद्धि वाला जानो।

आहार—

जब तक शरीर स्वस्थ है तभी तक सब धर्म हो सकते हैं। शरीर का स्वस्थ होना तीन बातों पर आश्रित है— आहार विचार और व्यायाम। भगवान् ने इसलिये ही इन तीनों पर बहुत अधिक बल दिया है।

"युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥"

हमारा आहार और विहार युक्त हो, हमारे कर्म चेष्टा युक्त हों तथा हमारा सोना और जागना युक्त

हो, तब योग सब दुःखों को हरने वाला होता है।

आहार वही युक्त है, जिसमें उचित मात्रा में Vitamines हों, सब mineral salts हों, carbohydrates (कार्बोदित) Fat (चर्बी) हो तथा Protein (पौष्टिक पदार्थ) हों।

वैज्ञानिकों की यह राय है कि ये सब तत्व दूध में उचित मात्रा में मौजूद हैं और अनेक फलों में भी पाये जाते हैं। परन्तु सर्व साधारण को समझाने के लिये भगवान् ने बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। उन्होंने बतलाया है कि आहार तीन प्रकार का है।

"आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः

वह आहार जिससे आयु बढ़े, मानसिक शक्ति बढ़े, मनुष्य नीरोग रहे, सुखी रहे और प्रीति बढ़े तथा वह आहार जो रस युक्त हो, चिकना हो, स्थिर

रहने वाला हो और स्वादु हो वह आहार सात्त्विक पुरुष को प्रिय होता है।

**"कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥"**

कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, अतिगरम, तीक्ष्ण, रूखे और दाहकारक एवं दुःख चिन्ता और रोगों को उत्पन्न करने वाले आहार राजस पुरुष को प्रिय होते हैं।

**"यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥"**

जो भोजन अधपका, रस रहित और दुर्गन्ध युक्त एवं बासा उच्छिष्ट और अपवित्र भी हो वह भोजन तामस पुरुष को प्रिय होता है।

त्याग और सन्यास—

आजकल सन्यासी वह समझा जाता है, जो कोई कर्म न करे। उनके लिये सब कर्तव्य त्न्तव्य हैं।

वह कर्तव्याकर्तव्य से ऊपर है। परन्तु भगवान की दृष्टि में वह सन्यासी नहीं है।

"काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥"

विद्वान लोग उसको त्याग समझते हैं, जिसमें काम्यकर्मों का त्याग हो तथा सब कर्मों के फल का त्याग हो।

"यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥"

यज्ञ दान और तप इन्हें कभी नहीं त्यागना चाहिये। ये कर्तव्य-धर्म हैं; क्योंकि निस्सन्देह ये मनीषियों को पवित्र करने वाले हैं

"अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥"

जो फल की आकांक्षा न करते हुवे अपना कर्तव्य

पालन करते हैं; वही सन्यासी—और वही योगी है।
वह योगी और सन्यासी नहीं है—जो होम नहीं
करता या कर्म नहीं करता।

"दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत॥"

जो मनुष्य शरीर के क्लेश के भय से कर्म नहीं
करता और उन्हें त्याग देता है तथा यह समझता है
कि जो कुछ कर्म हैं, वह सब दुःख रूप ही हैं, तो वह
मनुष्य उस राजस त्याग को करके भी त्याग के फल
को प्राप्त नहीं होता।

"कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलंचैव स त्यागः सात्विकोमतः॥"

कर्तव्य कर्म करना है, ऐसा ही समझ कर जो
शास्त्रविधि से नियत किया हुआ कर्तव्य कर्म आसक्ति
और फल को त्याग कर किया जाता है; वह सात्विक
त्याग है।

GEORGE MACDONALD. "The doing of things from duty is but a start on the road to the kingdom of truth and love."

ST. AUGUSTINE. "In doing what we ought we deserve no praise because it is our duty."

ज्ञान—

भगवान् कृष्ण की दृष्टि में दिल और दिमाग की युगपद् उत्पन्न होने की अवस्था में यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि होती है। यदि इनमें से किसी एक की भी अवहेलना की जावे तो यथार्थ बोध नहीं होता।

आधुनिक संसार में ज्ञानी उसे कहते हैं, जो दिमागी युक्तियों द्वारा दूसरों का मुह बन्द करदे। परन्तु भगवान ज्ञानी उसको कहते हैं, जिसमें ज्ञान के प्रकाश से दम्भ, अहंकार, हिंसा, मलिनता तथा अधीरतादि सब अवगुण दूर हो चुके हैं, जो ज्ञान

क्रिया में परिणित नहीं किया जा सकता उस ज्ञान की इस संसार में कीमत सिफर के बराबर है। ज्ञान और कर्म का समुच्चय ही यथार्थ बोध का द्योतक है। युधिष्ठिर और उसके भाई शिक्षा प्राप्त करने के लिये अपने गुरु के पास जाते हैं। युधिष्ठिर अभी प्रथम पृष्ठ को ही पढ़ रहा है, जबकि उसके दूसरे भाई सारी पुस्तक पढ़ चुके हैं। युधिष्ठिर कहता है प्रथम पृष्ठ पर जो "सत्यं वद" का आदेश है उसे जब तक अपने जीवन में न घटा लूँ तब तक आगे कैसे चल सकता हूँ? भगवान् कृष्ण के ज्ञान शब्द का भी यही मर्म है।

भगवान् ज्ञान का लक्षण निम्न प्रकार से करते हैं—

" अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥"
" इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥"

" असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥"
" अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥"

मान अपमान के झंझट में न फसना, दम्भ का न रहना, अहिंसा, क्षमा, मन वाणी का सीधापन; गुरु सेवा, बाहर और भीतर की शुद्धि, स्थिरता, मन और इन्द्रियों का निग्रह, इन्द्रियों के विषय में वैराग्य, निरभिमान, जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और व्याधि आदि के दुःख तथा दोषों का बार-बार चिन्तन, पुत्र, स्त्री, गृह और धनादि से ममता और आसक्ति का न होना, इष्ट और अनिष्ट में सदा समचित रहना, आत्मा और अनात्मा के ज्ञान को देने वाली अध्यात्मिक विद्या का नित्य प्रति अभ्यास और तत्व ज्ञान के अर्थरूप परमात्मा का साक्षात्कार– यह सब तो ज्ञान है और इससे विपरीत जो कुछ है वह सब अज्ञान है , ऐसा कहा है ।

मुक्ति—

गीता की मुक्तिविषयक व्याख्या आधुनिक स्थिति के अनुकूल है। गीता में मुक्ति मानुषी शक्तियों के अभाव का नाम नहीं प्रत्युत शक्तियों की समता का नाम है।

इसलिये भगवान् कहते हैं—

" आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥"

हे अर्जुन! जो योगी अपनी सादृश्यता से सम्पूर्ण भूतों में समता देखता है, और सुख तथा दुःख को सब में सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।

गीता के अनुसार मुक्त वही है जिसका सर्वथा सर्वदा सर्वत्र समभाव हो।

" यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥"

जिस समय मनुष्य प्राणिमात्र को ईश्वर के आधार पर स्थित देखता है और सबका उसी भगवान् से ही विस्तार देखता है, उस समय वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

" विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥"

वे ज्ञानी पुरुष विद्या और विनय युक्त ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी समभाव से देखने वाले होते हैं।

सारांश यह है कि गीता के अनुसार मुक्त वही है जो सर्वत्र सम बुद्धि रखता है; शत्रु तथा मित्र में, सुख और दुःख में, जय तथा पराजय में और निन्दा तथा स्तुति में सम रहता है।

" न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥"

जो मनुष्य प्रिय हो अर्थात जिसको लोग प्रिय

समझते हैं, उसको प्राप्त होकर हर्षित न हो और अप्रिय को अर्थात जिसको लोग अप्रिय समझते हैं, उसको प्राप्त कर उद्विग्न न हो; ऐसा स्थिर बुद्धि, संशय रहित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्द घन भगवान में स्थित है।

कर्म—

गीता में कर्म शब्द विस्तृत अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कर्म का अर्थ है—व्यापार, हल चल और क्रिया। प्रत्येक क्रिया जो हम करते हैं, वह सब कर्म शब्द के अन्तर्गत है। कर्म योग के अध्याय में इसकी विशेष व्याख्या हो चुकी है। पाठकगण वहीं देखें।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का वही अर्थ है—जो गीता में क्षर और अक्षर का है, प्रकृति और पुरुष का है।

क्षर—नाशवान को कहते हैं। और अक्षर अविनाशी को कहते हैं—यह शरीर नाशवान है।

और अविनाशी इस शरीर में हमारा आत्मा है इसी प्रकार अविनाशी परमात्मा है उसे भी क्षेत्रज्ञ कहते हैं इन्हीं अर्थों में ही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का प्रयोग हुआ है। यहां भगवान ने इस शरीर को क्षेत्र से उपमा दी है। और जो हमारी आत्मा है— उसे उस क्षेत्र का मालिक जाहिर किया है।

"इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥"

अर्थ—

कौन्तेय यह तन क्षेत्र है ज्ञानी बताते हैं यही
जो जानता इस क्षेत्र को क्षेत्रज्ञ कहलाता वही
(श्रीहरिगीता)

"क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥"

अर्थ—

हे पार्थ ! क्षेत्रों में मुझे क्षेत्रज्ञ जान महान तू
क्षेत्रज्ञ क्षेत्र सुज्ञान मेरा ज्ञान है यह जान तू
(श्रीहरिगीता)

अन्य स्थान पर प्रकृति और पुरुष का वर्णन गीता में बड़े सुन्दर शब्दों में आया है। उसका भी प्रयोजन यही है जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का है। भगवान ने क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विषय में जो उपदेश किया है वह निम्न है—

" महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

अर्थ—
मन बुद्धि एवं महाभूत प्रकृति अहंकृति भाव भी
पांचो विषय सब इन्द्रियों के और इन्द्रिय गण सभी
(श्रीहरिगीता)

" इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥"

अर्थ—
सुख दुःख इच्छा द्वेष धृति संघात एवं चेतना
संक्षेप में यह क्षेत्र है समुदाय जो इनका बना
(श्रीहरिगीता)

इससे प्रगट है कि भगवान् कृष्ण की दृष्टि में दो तत्व अनादि काल से विद्यमान थे।

एक पुरुष और दूसरी प्रकृति।

एक क्षर और दूसरा अक्षर।

एक क्षेत्र और दूसरा क्षेत्रज्ञ।

इस पर भी गीता को अद्वैत वाद में लगाना न केवल असंगत है वरन उसके साथ अन्याय करना है।

ओम्म शान्ति ! शान्ति !! शान्ति !!!

प्राच्य साहित्य सेवा मंडल

उद्देश्य—इस मंडल का उद्देश्य यह है—कि प्राचीन ग्रन्थों का अंग्रेजी तथा हिन्दी भाषा में इस प्रकार सरल और सुबोध उल्था किया जावे जिससे सर्व साधारण तथा शिक्षित वर्ग सम्यकतया लाभ उठा सकें।